

उन सबके प्रयोगात्मक रूपसे दृष्टान्त प्रथमानुयोगमें ही मिलते हैं । इसलिए इसके अध्ययनकी विशेष रूपसे प्रेरणा की है । उसके अध्ययनसे हेय क्या है और उपादेय क्या है, इसका सम्यक् रीतिसे बोध होता है साथ ही बोधि और समाधिकी भी प्राप्ति होती है । बोधिका अर्थ है--- अप्राप्त सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति । और प्राप्त होनेपर उन्हें उनकी चरम सीमातक पहुँचाना समाधि है अथवा समाधि का अर्थ है धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ॥९॥

अब करणानुयोग सम्बन्धी उपयोगमें लगाते हैं---

नारक, तिर्थच, मनुष्य, देवरूप चार गतियों; युग अर्थात् सुषमा- सुषमा आदि कालके विभागोंका परिवर्तन; तथा लोक और अलोकका विभाग जिसमें वर्णित है उसे करणानुयोग कहते हैं । जितेन्द्रिय पुरुषोंका उस करणानुयोगको हृदयमें धारण करना चाहिए ॥१०॥

विशेषार्थ--- करणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रमें चार गति आदिका वर्णन होता है । नरकादि गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको गति कहते हैं । उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंके परिवर्तनको युगावर्त कहते हैं । जिसमें जीव आदि छहों पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं । अर्थात् तीन सौ तैतालीस राजु प्रमाण आकाशका प्रदेश लोक है । उसके चारों ओर अनन्तानन्त प्रमाण केवल आकाश अलोक है । इन सबका वर्णन

अथ चरणानुयोगमीमांसायां प्रेरयति---

३ सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत् ।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चाणादृतैः ॥११॥

चरणानुयोगः--- आचाराङ्गोपसाकाध्ययनादि शास्त्रम् ॥११॥

अथ द्रव्यानुयोगभावनायां व्यापारयति ---

३ जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम् ।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियं ॥१२॥

द्रव्यानुयोगसमयं --- सिद्धान्तसूत्र- तत्त्वार्थसूत्रादिकम् ।

६ समयन्तु --- सम्यग्जानन्तु ॥१२॥

अदा सदा जिनागमसम्यगुपास्तेः फलमाह ---

सकलपदार्थबोधमहिताहितबोधनभावसंवरा,

नवसंवेगमोक्षमार्गास्थिति तपसि चात्र भावनान्यदिक् ।

९ भावसंवरः--- मिथ्यात्वाद्यास्त्रवनिरोधः। नवेत्यादि --- नवसंवेगश्च मोक्षमार्गस्थितिश्चेति समाहारः।

अन्यादिक् --- परोपदेशः। अमलं--- पूर्वापराविराधादिदोषरहितम् । विपुलं --- लोकलोकार्थव्यापि निपुणं---

करणानुयोगमें होता है । लोकानुयोग, लोकविभाग, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ उसी अनुयोगके अन्तर्गम है ॥१०॥

चरणानुयोगके चिन्तनमें प्रेरित करते हैं---

चारित्रपालनके लिए तत्पर पुरुषोंको सकलचाचारित्र और विकलचारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और विशिष्ट वृद्धिको करनेवाले चरणानुयोगका चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

विशेषार्थ--- हिंसा आदिके साथ रागद्वेषकी निवृत्तिको चारित्र कहते है । उसके दो भेद है --- सकल चारित्र और विकल चारित्र । इन चारित्रोंको कैसे धारण करना चाहिए, धारण करके कैसे उन्हें अतीचारोसे बचाना चाहिए और फिर कैसे उन्हें बढ़ाना चाहिए, इन सबके लिए आचारांग, उपासकाध्ययन आदि चरणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको पढना चाहिए ॥११॥

द्रव्यानुर्योगकी भावनामें लगाते है ---

तीक्ष्ण बुद्धिशाली पुरुषोंको जीव- अजीव, बन्ध मोक्ष और पुण्य- पापका निश्चय करनेके लिए सिद्धान्तसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोग- विषयक शास्त्रोंको सम्यक् रीतिसे जानना चाहिए ॥१२॥

इस प्रकार चारों अनुयोगोंमें संगृहीत जिनागमकी उपासनाका फल कहते है ---

जिनागम पूर्वापरविरोध आदि दोषासे रहित होनेसे अमल है, लोक और अलोकवर्ती पदाथोका कथन करनेवाना होनेसे विपुल है, सूक्ष्म अर्थ का दर्शक होनेसे निपुण है, अर्थतः अवगाढ --- ठोस होनेसे निकाकचत है, सबका हितकारी है, परम उत्कृष्ट है और पापका हर्ता है । ऐसे जिनागमकी जो सदा अच्छी रीतिसे उपासना करता है उसे सात गुणोंकी प्राप्ति होती है --- १. त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान होता है, २. हितकी प्राप्ति

सूक्ष्मार्थदर्शि। निकाचितं --- अर्थावगाढम् । सार्व --- सर्वहितम् । अनुत्तरं --- परमोत्ततुम् । वृजिनहत् --- पापपहारि उपासितुः--- साधुत्वेन सेवमानस्य ॥१३॥

अथाष्टधा विनयं ज्ञानाराधनार्थमाह ---

ग्रन्थार्थतद्दर्यः पूर्ण सोपधानमनिह्वम् ।

विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं श्रयेत् ॥१४॥

सोपधानं --- यथाविहितनियमविशेषसहितम् । अनिह्वं --- गुर्वाद्यपह्वरहितम् । काले --- यथाविहिते सन्ध्याग्रहणादिवर्जिते ॥१४॥

अथ सम्यक्त्वानन्तरज्ञानाराधने हेतुमाह ---

आराध्य दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः।

सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् ॥१५॥

स्पष्टम् ॥१५॥

और अहितके परिहारका ज्ञान होता है, ३. मिथ्यात्व आदिसे होनेवाले आस्त्रवका निरोधरूप भाव संवर होता है अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाम होता है, ४. प्रति समय संसारसे नये- नये प्रकारकी भीरुता होती है, ५. व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रयमें अवस्थिती होती है उससे चलन नहीं होता, ६. रागादिका निग्रह करनेवाले उपायोंमें भावना होती है और ७. परको उपदेश देनेकी योग्यता प्राप्त होती है ॥१३॥

ज्ञानकी आराधनाकेलिए आठ प्रकारकी विनय कहते हैं ---

ग्रन्थपूर्णता, अर्थपूर्णता, उभयपूर्णता, सोपधानता, अनिह्व, विनय और बहुमानेके साथ योग्यकालमें ममुक्षुको जिनागमका अभ्यास करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ --- ज्ञानकी आराधना विनयपूर्वक करनी चाहिए । विनयके आठ अंग हैं --- उसमें सबसे प्रथम तो ज्ञानक तीन अंग हैं --- ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप । इन तीनोंकी पूर्णता होनी चाहिए । जिस ग्रन्थका स्वाध्याय किया जाये उसका शुद्ध वाचन हो, उसके अर्थका सम्यक् अभ्यास हो --- गूढ अर्थ भी छिपा न रहें, इन दोनोंकी पूर्णता होनी चाहिए, शब्द और अर्थ दोनोंकी सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए । शेष पाँच ज्ञानकी आराधनाके अंग हैं --- ज्ञानकी आराधनाकी जो विधि - नियम आदि कहे हैं उनके साथ आराधना करना सोपधानता है । जिनसे शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो उन गुरु आदिका नाम न छिपाना अनिह्व है । ज्ञानका माहात्म्य प्रकट करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है वह विनय है । ज्ञानका, ज्ञानके साधन शास्त्र, गुरु, पाठशाला आदिका खूब आदर- सत्कार करना बहुमान है । तथा योग्य कालमें ही स्वाध्याय करना चाहिए, सन्ध्यासमय और चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहणके समय सिद्धान्त ग्रन्थोका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए । अक्लक देवने तत्त्वार्थवार्तिक (१/२०/१४) में अंगबाह्यके कालिक- उत्कालिक आदि भेद किये हैं । जिसका स्वाध्यायकाल नियत है उसे कालिक कहते हैं और जिसका काल नियत नहीं है उसे उत्कालिक कहते हैं । आचार्य वीर- नन्दिने आचारसारके चतुर्थ अधिकारमें कालादि

शुद्धिपूर्वक स्वाध्यायका कथन करते हुए पुराण, आराधना, पंचसंग्रह अरदिके अध्ययनको इस नियमसे वर्जित रखा है ॥१४॥

सम्यक्त्वकी आराधनाकेपश्चात् ज्ञानकी आराधना करनेका कारण बतलाते है ---

मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका कार्य है । इसप्रकार प्रश्न हो सकता है कि जैसे गायके

अथ तपसः समीहितार्थसाणकत्वं ज्ञानं विना न स्यादिति दर्शयति ---

विभावमरुता विपद्दति चरद् भवाब्धौ सुरुक्,

३ प्रभुं नयति किं तपःप्रवहणं पदं प्रेषितम् ।

हिताहितविवेचनादवहितः प्रबोधोऽन्वहं,

प्रवृत्तिविनिवृत्तिकृद्यदि न कर्णधारायते ॥१६॥

३ विभावमरुता --- रागाद्यावेशवायुना । विपद्दति --- आपद्बहुले । सुरुक् --- बहुक्लेशं । अवहित :-

- अवधानपर : ॥१६॥

अथ ज्ञानस्योद्योतना (-द्य-) राधपात्रितयमाह ---

दो सींग एक साथ उगते है अतः उनमें कार्यकारण भाव नहीं है । उसी तरह सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है तब उनमें कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है तो उत्तर देते है कि दीपक और उसके प्रकाशकी तरह एक साथ होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें कार्यकारण भाव है ॥१५॥

विशेषार्थ --- सम्यक्त्वके अभावमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कुमिति और कुश्रुत होते है । किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते है । अतः वे ज्ञान तो पहले भी थे किन्तु उनमे सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर हुआ। कहा है --- दुराभिनिवेशविमुक्कंणाणं सम्भं खु होंदि सदि जम्हि --- द्रव्य सं. गा. ४१ । उस सम्यक्त्वके होनेपर ही ज्ञान मिथ्या अभिप्रायसे रहित सम्यक् होता है । अतः सम्यग्दर्शन कारणरूप है और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है । इसपर यह प्रश्न होता है कि कारण पहले होता है कार्य पीछे होता है । किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एक साथ होते है अतः कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है । उसका समाधान ऊपी किया है । पुरुषार्थसि. ३४ में कहा भी है ---

यद्यापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते है फिर भी उनमें कार्य- कारण भाव यथार्थ रूपसे घटित होता है । जैसे दीपक और प्रकाश एक ही समय उत्पन्न होते है फिर भी दीपक प्रकाशका कारण है और प्रकाश उसका कार्य है क्योंकि दीपकसे प्रकाश होता है ॥१५॥

आगे कहमे है कि ज्ञानकेबिना तप इच्छित अर्थका साधक नहीं होता ---

यदि हित और अहितका विवेचन करके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति करनेवाला प्रमादरहित ज्ञान प्रतिदिन कर्णधारके समान मार्गदर्शन न करे तो रागादिके आवेश रूप वायुसे क्लेशपूर्ण विपत्तिसे भरे संसाररूपी समुद्रसे चलनेवाला तपरुपी जहाज क्या मुमुक्षुको इच्छित स्थानपर पहुँचा सकता है अर्थात् नहीं पहुँचा सकता ॥१६॥

विशेषार्थ --- जैसे वायुसे क्षुब्ध समुद्रमें पडा हुआ जहाज प्रतरण कलामें कुशल नाविक की मददके बिना आरोहीको उसके गन्तव्य स्थान पी नहीं पहुँचा सकता, वैसे ही हिताहित विचारपूर्वक हितमें प्रवृत्ति करानेवाले और अहितसे निवृत्ति करानेवाले ज्ञानकी मददके बिना ज्ञानशून्य तप भी मुमुक्षुको मोक्ष नहीं पहुँचा सकता ॥१६॥

सम्यग्ज्ञानकी उद्योतन आदि तीन आराधनाओंको कहते हैं ---

ज्ञानावृत्युदयाभिमात्युपहितैः संदेहमोहभ्रमैः,

स्वार्थभ्रशपरैर्वियोज्य परया प्रीत्या श्रुतश्रीप्रियाम्।

प्राप्य स्वात्मनि यो लयं समयमप्यास्ते विकल्पातिगः,

सद्यः सोऽस्तमलोच्चयश्चिरतपोमात्रश्रमैः काम्यते ॥१७॥

अभिघातिः--- शत्रुः । वियोज्य --- सन्देहादिभिस्त्याजयित्वा इत्यर्थ । एतेनोद्योतनमुक्तं , प्राप्य --- नीत्वां। लयं --- एकत्वपरिणतिमाश्लेषं च । एतेनोद्यवनमुक्तम् । समयमपि --- एकमापि क्षणमल्पकालपीत्यर्थः। आस्ते --- परमानन्देन तिष्ठतीत्यर्थः। एतेन निर्वहणं भणितम् । सद्य इत्यादि । उक्तं च ---

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीही ।

तं णाणी तिहिं गुतो खवेइ णिमिसध्दमेत्तेण ॥ ()

चिरत्यादि --- चिरंबहुकाल तपोमात्रे ज्ञानाराधनारहितकायक्लेशाद्यनुष्ठाने श्रमोऽभ्यासो येषाम् ॥१७॥

अथ बोधप्रकाशस्य दुर्लभत्वमाह ---

ज्ञानावरण कर्मके उदयरूप शत्रुके द्वारा उत्पन्न किये गये संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान पुरुषार्थको नष्ट करते हैं । इनके रहते हुए यथार्थ वस्तु- स्वरूपका बोध नहीं हो सकता । अतः श्रुतज्ञान भावनारूपी प्रियोको इनसे वियुक्तं करके अत्यन्त प्रीतिके साथ उसे जो अपनी आत्मामें लय करके एक क्षणके लिए भी निर्विकल्सं होता है उसके कर्ममल तत्काल निर्जीर्ण हो जाते हैं । और जो ज्ञानाराधनासे शून्य कायक्लेशरूप तपमें चिरकालसे लगे हैं वे भी उसकी अनुमोदना करते हैं कि यह व्यक्ति ठीक कर रहा है ॥१७॥

विशेषार्थ --- यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयको शत्रुकी उपमा दी है; क्योंकि वह शत्रुके समान सदा अपकारमें ही तत्पर रहता है। एक मेरी आत्मा ही शाश्वत है इत्यादि श्रुतज्ञान भावनाको प्रियपत्नीकी उपमा दी है क्योंकि वह अपने स्वामीको प्रगाढ आनन्द देनेवाली है। जैसे ज्ञानी राजा अपने शत्रुओके द्वारा प्रेषित व्यक्तियोंके फन्देमें फँसी अपनी प्रियपत्नीको उनसे छुडाकर बड़े प्रेमके साथ उसे अपनेमें लय करके आनन्दमग्न हो जाता है उसी तरह ज्ञानका उद्योतन, उद्यवन और निवहण करनेवाला मुमुक्षु अपनी ज्ञान भावनाको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले संशय आदिसे मुक्त करके यदि उसमें एक क्षणके लिए भी लीन होकर निर्विकल्प हो जाये --- यह क्या है, कैसा है, किसका है, कहाँ है, कब है इत्यादि अन्तर्जल्पसे सम्पृक्तं भावना जालसे रहित हो जाये तो उसके कर्मबन्धन तत्काल कट जाते हैं। कहा भी है--- अज्ञानी जीव लाख- करोड भवोंमें --- जितना कर्म खपाता है, तीन गुप्तियोंका पालक इतनी उसे आधे निमेष मात्रमें नष्ट कर देता है।

यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाले संशय आदिको दूर करना ज्ञानका उद्योतन है। परम प्रीतिपूर्वक श्रुत ज्ञान भावनाको प्राप्त करके आत्मामे लय होना ज्ञानका उद्यवन है और एक समयके लिए निर्विकल्प होना ज्ञानका निर्वहण है। इस प्रकार ज्ञानकी तीन आराधनाओंका कथन किया है ॥१७॥

ज्ञानके प्रकाशको दुर्लभ बतलाते हैं ---

६ अभिभाति भ.कु.च.टी।

७ उस्सासमेत्तेण --- प्रव.सा.३/३८। अंतोमुहुत्तेण, भ.आ. १०८।

दोषोच्छेदविजृम्भितः कृततमश्छेदः शिवश्रीपथः

३ सत्वोद्बोधकरः प्रकल्पकमलोल्लासः स्फुरद्वैभवः।

लोकालोकततप्रकाशविभवः कीर्ती जगत्पाविनी,

तन्वन् क्वापि चकास्ति बोधतपनः पुण्यात्मनि व्योमनि ॥१८॥

९ दोषोच्छेदः--- सन्देहादिविनाशो रात्रिक्षयश्च । शिवश्रीपथः--- मोक्षलक्ष्मीप्राप्त्युपायः पक्षे शिवानां -
-- मुक्तांना प्रधानमार्गः। सत्वोद्बोधकरः--- सात्विकत्वाभिव्यक्तिकारी प्राणिनां निद्रापसारी च ।
प्रकल्प इत्यादि --- प्रकल्पतो रचितः कमलायाः श्रियः; पक्षे कमलांनां पङ्कजानामुल्लास
उद्भगतिर्विकासश्च येन। अथवा, कस्य आत्मनो मला रागादयस्तेषामुल्लास उद्भवः प्रकल्पतः
प्रकर्षेध च्छिन्नोऽसौ येन बोधेनेति ग्राहयम् । लोकोलोकौ पूर्वोक्तौ । लोकालोकश्चक्रालशैलः।
कीर्ति --- यशः स्तुति च ॥१८॥

१२ अथ ज्ञानस्य साधननिस्तरणयोः प्रणुदति ---

निर्मथ्यागमदुग्धाब्धिमुद्धृत्यातो महोद्यमाः।

तत्त्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः॥१९॥

१. उद्धृत्य, एतेन साधनमाप्नातं समग्रद्रव्यागमावगाहनप्रभवभावागमसंपूणीकरणलक्षणत्वात् तत्त्वज्ञानोद्धरणस्या तत्त्वज्ञानामृतं--- परमोदासीनज्ञानपीयूषं पीत्वा । एतेन निस्तरणमुक्तम् । तत्त्वज्ञानपरिणत्य ---

सम्यग्ज्ञान सूर्यकेसमान है। जैसे सूर्य दोषा अर्थात् रात्रिका क्षय करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है वैसे ही ज्ञान भी दोषोका विनाश करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है । जैसे सूर्य तमका विध्वंस करता है वैसे ही ज्ञान भी तम अर्थात् ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका विध्वंस करता है । जैसे सूर्य मुक्तिको जानवाला प्रधान मार्ग है (एक तके अनुसार मुक्त हुए जीव सूर्य मण्डलको भेदकर जाते हैं) वैसे ही ज्ञान भी मुक्त जीवोंका प्रधान मार्ग है । जैसे सूर्य प्राणियोंकी नींदसे जगाता है वैसे ही ज्ञान भी प्राणियोंको मोहरूपी निद्रासे जगाता है । जैसे सूर्य कमलोको विकसित करता है वैसे ही ज्ञान भी च्कड अर्थात् आत्माके रागादि मलोकी उत्पत्तिको एकदम नष्ट कर देता है । सूर्यका प्रभाव भी मनुष्याके मनमें चमत्कार पैदा करता है, ज्ञानका प्रभाव तीनों लोकोका अधिपतित्व मनुष्योंके मनमे चमत्कार पैदा करता है । सूर्य अपना प्रकाश लोकालोक अर्थात् चक्राल पर्वतपर फैलाता है; ज्ञानका प्रकाश लोक- अलोक में फैलाता है क्योंकि वह लोकालोकको जानता है । सूर्य भी जगतको पवित्र करनेवाली अपनी कीर्तिको फैलाता है --- भक्त लोग उसका स्तुतिगान करते हैं । ज्ञान भी धर्मोपदेशरूप दिव्यध्वनिसे जगतको पवित्र करता है । जैसे सूर्य अन्धकारादि दोषोंसे रहित आकाशमें प्रकाशित होता है वैसे ही ज्ञान भी किसी एक पुण्यात्मा जीवमें प्रकाशित होता है अर्थात् सबमे ज्ञानका उदय होना असम्भव है॥१८॥

आगे ज्ञानकी साधन आराधना और निस्तरण आराधनाको कहते हैं ---

हिन्दू पुराणोंमे कथा है की देवोंने बडे उत्साहसे समुद्र- मन्थन करके अमृतका पान किया था और अमर हो गये थे। उसीको दृष्टिमें रखकर कहते हैं कि मैत्री आदि भावनाओसे प्रसन्नचित्त ज्ञानीजन आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके --- शब्दसे, अर्थसे और आक्षेप समाधानके द्वारा पूरी तरह विलोडन करके उससे निकाले गये तत्त्वज्ञानरूपी अमृतको पीकर अपने उत्साहको बढावे और अमरत्वको प्राप्त करें--- पुनर्मरणसे मुक्त होवे ॥१९॥

विशेषार्थ --- आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके तत्त्वज्ञानरूपी अमृतका उद्धार करनेसे ज्ञानकी साधन आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानके उद्धारका मतलब है सम्पूर्ण द्रव्यरूप

नन्तरभाविनोऽमरभावस्य तच्छब्दाभिधेयत्वात् । सुमनसः - प्रसन्नचित्ता देवाश्च । अमरा : - मृत्युरहिता
:।

मृत्युश्चात्र पुनर्मरणमपमृत्युश्च ॥ १९ ॥

अथ मनसो चञ्जलत्वमनूद्य तन्निग्रहेण स्वाध्यायप्रणिधानादतिदुर्धरस्यापि संयमस्य सुवहत्वं निरूपयितुं श्लोकत्रयमाह -

लातुं वीलनमत्स्यवद् गमयितुं मार्गे विदुष्टाश्वव -

न्निम्नाद्रोद्धुमगापगौध इव यन्नो वाञ्छिताच्छक्यते ।

दूरं यात्यनिवारणं यदणुवद् द्राग्वायुवच्चाभितो,
नश्यत्याशु यदब्दवद्बहुविधैर्भृत्वा विकल्पैर्जगत् ॥ २० ॥

वीलनमत्स्यवत् - मसृणतरदेहमत्स्य इव । अगापगौघः - पर्वतनदीपूरः । अभितः - समन्ता -
द्यातीति सम्बन्धः । अब्दवत् - मेघैस्तुल्यम् । विकल्पैः - चिन्ताविवर्तैः । भेदैश्च ॥ २० ॥

नो मूकवद् वदति नान्धवदीक्षते य --
द्रागातुरं बधिरवन्न श्वृणोति तत्त्वम् ।
यत्राऽयते यतवचोवपुषोऽपि वृत्तं,
क्षिप्रं क्षरत्यवितथं तितओरिवाम्भः ॥ २१ ॥

किंच, अयते - असंयते । तितओः - चालन्याः ॥ २१ ॥

व्यावर्त्याशुभवृत्तितो सुनयवन्नीत्वा निगृह्य त्रपां,
वश्यं स्वस्य विधाय तद्भृतकवत्प्राप्य भावं शुभम् ।
स्वाध्याये विदधाति यः प्रणिहितं चित्तं भृशं दुर्धरं,
चक्रे शौरपि दुर्वहं स वहते चारित्रमुच्चैः सुखम् ॥ २२ ॥ [त्रिकलम्]

आगमके अवगाहनसे उत्पन्न भावागमकी सम्पूर्णता । तथाज्ञानामृतको पीकर अमरता प्राप्त करें^६ इससे
निस्तरण आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानरूप परिणतिके अनन्तर होनेवाला अमरत्व निस्तरण
शब्दका अभिधेय है ॥ १९ ॥

मनको अत्यन्त चंचल बतलाकर उसके निग्रहके द्वारा स्वाध्यायमें मन लगानेसे अति दुर्धर भी
संयम सुखपूर्वक धारण किया जा सकता है, यह बात तीन श्लोकोंसे कहते हैं ---

जो मन अत्यन्त चिकने शरीरवाले मत्स्यकी तरह पकडनेमें नहीं आता, जिसे दुष्ट घोड़ेकी तरह
इष्ट मार्ग पर चलाना अत्यन्त कठिन है, निचले प्रदेशकी ओर जानेवाले पहाडी नदीके प्रवाहकी तरह
इच्छित्त वस्तुकी ओर जानेसे जिसे रोकना अशक्य है, जो परमाणुकी तरह विना रुके दूर देश चला जाता
है, वायुकी तरह शीघ्र ही सब ओर फैल जाता है, शीघ्र ही नाना प्रकारके विकल्पोंसे जगतको भरकर
मेघकी तरह नष्ट हो जाता है, इष्ट तत्त्वको विषयके प्रति रागसे पीडित होनेपर गूँगेकी तरह कहता नहीं
है, अन्धेकी तरह देखता नहीं है, बहरेकी तरह सुनता नहीं है तथा जिसके अनियन्त्रित होनेपर वचन
और कायको वशमें कर लेनेवाले पुरुषका सच्चा चारित्र भी चलनीसे जलकी तरह शीघ्र ही खिर जाता
है, उस अत्यन्त दुर्धर मनको जो प्रमादचर्या, कलुषता, विषयलोलुपता आदि अशुभ प्रवृत्तियोंसे हटाकर,
दुर्जन पुरुषकी तरह ज्ञान संस्कार रूपी दण्डके बलसे निग्रह करके लज्जित करके खरीदे हुए दासकी
तरह अपने वशमें करके शुभ भावोंमें लगाकर स्वाध्यायमें एकाग्र करता है, वह चक्रवर्तियोंसे भी धारण
किये जानेमें अशक्य उच्च चारित्रको सुखपूर्वक धारण करता है ॥ २०-२२ ॥

धर्माभूत (अनगार)

ततः असुनयवर्जसमस्ततपोभ्यः स्वाध्यायस्योत्कृष्टशुद्धिहेतुतया समाधिमरणसिद्धयर्थ
नित्यकर्तव्यतां दर्शयति ---

नाभून्नास्ति न वा भविष्यति तपःस्कन्धे तपो सत्समं
कर्मान्यो भवकोटिभिःक्षिपति यद्योऽन्तर्मुहूर्तेन तत् ।
शुद्धिं वाऽनशनादितोऽमितगुणां येनाऽश्नुतेऽश्नन्नपि,
स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥ २३ ॥

स्कन्धः - समूहः । अन्यः - तपोविधिः । अमितगुणां - अनन्तगुणाम् ॥ २३ ॥

अथ श्रुतज्ञानाराधनायाः परम्परया परममुक्तिहेतुत्वमाह ----

९ श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम् ।
शुक्लं ततश्च केवल्यं ततश्चान्ते पराच्युतिः ॥ २४ ॥

पृथक्लक्षणं - पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं क्षणं (?) पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं प्रथमं शुक्लध्यानम्,
एकत्व

लक्षणं - एकत्ववितर्कावीचारासंज्ञितं द्वितीयशुक्लध्यानम् । ततः - ताभ्यां प्रथमापेक्षत्वाद्
द्वितीयस्य । संसाराभावे पुंसः स्वात्मलाभो मोक्ष इति वचनात् । अथवा अन्ते मरणे,
पण्डितपण्डितमरणप्राप्यत्वान्निर्वाणस्य । इति भद्रम् ॥ २४ ॥

इति आशाधरदृढ्यायां स्वोपज्ञधर्माभूतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अत्र अध्यायग्रन्थप्रमाणं त्रिंशं शतं, अङ्कतः श्लोकाः १३० ।

ध्यानको छोडकर शेष सभी तपोंमे स्वाध्याय ही ऐसा तप है जो उत्कृष्ट शुद्धिमें हेतु है । अतः
समाधिमरणकी सिद्धिके लिए उसे नित्य करनेका विधान करते हैं ---

अनशन आदि छह बाह्य तपों और प्रायश्चित्त आदि पाँच अभ्यन्तर तपोंके समूहमें जिसके समान तप न
हुआ, न है, न होगा, जो कर्म अन्य तपस्वी करोडों भवोंमे निर्जीव करता है, जिसके द्वारा भोजन करते
हुए भी अनशन आदिसे अनन्तगुनी विशुद्धि प्राप्त होती है वह स्वाध्याय तप मरणके समय आराधनाकी
सिद्धिके लिए सदा करना चाहिए ॥ २३ ॥

आगे कहते हैं कि श्रुतज्ञानकी आराधना परम्परासे मुक्तिकी कारण है

यतः श्रुतभावनासे पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क रूप शुक्लध्यान होते हैं । शुक्लध्यानसे
केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानसे अन्तमें परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

विशेषार्थ श्रुतभावना व्यग्रतारहित ज्ञानरूप भी होती है और एकाग्र ज्ञान रूप भी होती है ।
व्यग्रता रहित ज्ञान रूपको स्वाध्याय कहते हैं और एकाग्र ज्ञान रूपको धर्मध्यान कहते हैं । अतः
स्वाध्यायसे धर्मध्यान होता है । धर्मध्यानसे पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्ल ध्यान होता है । उससे
एकत्व वितर्क वीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान होता है । उससे अनन्ताज्ञानादि चुष्टय रूप जीवन्मुक्ति
प्राप्त होती है । उसके पश्चात् क्रमसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान

होते हैं । अन्तिम शुक्लध्यानसे सब कर्मोंका क्षय होकर सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे युक्त परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

इस प्रकार पं. आशाधार रचित धर्माभूतके अन्तर्गत अनगारधर्माभूतकी भव्यकुमुद-
चन्द्रिका टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी
टीकामें ज्ञानाराधनाधिगम नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्थ अध्याय

अथ क्रमप्राप्तां चारित्राराधनां प्रति मुमुक्षूनुत्साहयति -

सम्यग्दृष्टिसुभूमिवैभवलसद्विद्याम्बुमाद्यद्वया-

मूलः सद्ब्रतसुप्रकाण्ड उदयद्गुप्त्यग्रशाखाभरः । ३

शीलोद्योद्विटपः समित्युपलतासंपद्गुणोद्धोद्गम --

च्छेतुं जन्मपथक्लमं सुचरितच्छायातरुः श्रीयताम् ॥ १ ॥

वैभवं- प्रभावः। दया - दुःखार्तजन्तुत्राणाभिलाषः । प्रकाण्डः - स्कन्ध । विटपः - विस्तारः ।

६

उपलताः - उपशाखाः । उद्धोद्गमानि - प्रशस्तपुष्पाणि । जन्म - संसारः । सुचरितं
इ सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मीन्येवं रूपं सामायिकं नाम प्रागुपादेयं सम्यक्चारित्रम् । तस्यैवैदंयुगीनानुद्दिश्य
छेदोपस्थापनरूपतया प्रपञ्च्यमात्वात् । छायातरुः - यस्यार्कपरिवर्तनेऽपि छाया न चनत्यसौ । ॥ १ ॥

९

अब क्रमसे प्राप्त चारित्राराधनाकेप्रति मुमुक्षुओंको उत्साहित करते हैं ---

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अच्छी तरहसे बारम्बार सेवन करनेवाले मुमुक्षुओंको जन्मरूपी
मार्गकी थकान दूर करनेके लिए सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका आश्रय लेना चाहिए । इस वृक्षका मूल
दया है । यह दयारूप मूल दर्शनविशुद्धिरूपी उत्तम भूमिके प्रभावसे अपना कार्य करनेमें समर्थ सम्यक्
श्रुतज्ञानरूपी जलसे हरा-भरा है । समीचीन ब्रत उसका स्कन्ध (तना) है । गुप्तिरूप प्रधान उन्नत
शाखासे शोभित है । शीलरूपी उठा हुआ विटप है । समितिरूप उपशाखा सम्पदासे युक्त है । उसमें
संयमके भेद - प्रभेदरूपी सुन्दर फूल लगे हैं ॥ १ ॥

विशेषार्थ -- सम्यक् रचारित्रको छायातरुकी उपमा दी है । सूर्यकी दिशा बदल जानेपर भी
जिसकी छाया बनी रहती है उसे छायावृक्ष कहते हैं । सम्यक्चारित्र ऐसा ही छायावृक्ष है । उसका मूल
दया है । दुःखसे पीडित जन्तुकी रक्षा करनेकी अभिलाषाक नाम दया है । वही दया सम्यक्चारित्ररूपी
वृक्षीका मूल है । वह मूल विशुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमें श्रुतज्ञानरूपी जलसे सिंचित होनेसे अपना

कार्य करनेमें समर्थ है। जिसमें- से अंकुर फूटता है वह मूल होता है। दयारू पी मूलमें-से ही ब्रतादिरू प अंकुर फूटते हैं। अतः व्रत उसका तना है। गुप्ति उसकी प्रधान शाखा है। सम्यक् रीतिसे योगके निग्रहको गुप्ति कहते हैं। समितियाँ उपशाखाएँ हैं। शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करनेका नाम समिति हैं। शील विटप है - वृक्षका फैलाव है। जो व्रतकी रक्षा करता है उसे शील कहते हैं। संयमके भेद उसके फल-फूल हैं। इस तरह सम्यक्चारित्र छायावृक्षके तुल्य है जो संसाररू पी मार्गमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करता है। सबसे प्रथम धर्म सर्व सावद्योगसे विरत हूँड इस प्रकार सामायिकरू प सम्यक्चारित्र उपादेय होता है। उसी चारित्रको यहाँ इस युगके साधुओंके उद्देश्यसे छेदोपस्थापनारू पमें विस्तारसे कहा जाता है ॥ १ ॥

धर्माभूत (अनगार)

अथ सम्यक्त्वज्ञानयोः सम्पूर्णत्वेऽपि सति चारित्रासम्पूर्णतायां परममुक्त्यभावमावेदयाति इ परमावगाढसुदृशा परमज्ञानोपचारसंभृतया ।

रक्ताऽपि नाप्रयोगे सुचरितपितुरीशमेति मुक्तिश्रीः ॥ २ ॥

परमावगाढसुदृशा - अचलक्षायिकसम्यक्त्वेन । अतिचतुरदूत्या च उपचारः - कामितालङ्कारादि-सत्कारः। रक्ता - अनुकूलिता उत्कण्ठिता च । अप्रयोगे इ सयोगत्वाघातिकर्मतीव्रोदयत्वस्वरू पातिचार-सभ्दावादसंपूर्णत्वेऽसंप्रदाने च । ईशं-जीवन्मुक्तं वरयिष्यन्तं च नायकम् । मुक्तिश्रीः - परममुक्तिः । अत्र उपमानभूता कुलकन्या गम्यते ॥ २ ॥

अथ लसद्विद्येति समर्थयितुमाह -

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सदृशनं यथा ।

चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ॥ ३ ॥

व्याख्यातप्राम् ॥ ३ ॥

१२ भूयोऽपि -

हितं हि स्वस्य विज्ञाय श्रयत्यहितमुज्झति ।

तद्विज्ञानं पुनश्चारि चारित्रस्याधमाघ्नतः ॥ ४ ॥

अघं - कर्म । आघ्नतः - निर्मूलयतः ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके सम्पूर्ण होनेपर भी चारित्रकी पूर्णता न होनेपर परममुक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं-

केवलज्ञानरू पी उपचारसे परिपुष्ट परमावगाढ सम्यग्दर्शनके द्वारा अनुकूल की गयी भी मुक्तिश्रीरू पी कन्या सम्यक्चारित्ररू पी पिताके द्वारा न दिये जानेपर सयोगकेवलरू पी वरके पास नहीं जाती ॥ २ ॥

विशेषार्थ - परममुक्ति कुलीन कन्याकेतुल्य है । और समस्त मोहनीय कर्मकेक्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सदा निर्मल आत्यन्तिक क्षायिक चारित्र पिताके तुल्य है । जीवन्मुक्त केवलज्ञानी वरके तुल्य है । केवलज्ञान इच्छित वस्त्र-अलंकार आदिसे किये गये सत्कारकेतुल्य है । और परमावगाढ सम्यग्दर्शन चतुर दूतीके तुल्य है । जैसे चतुर दूतीके द्वारा भोगके लिए आतुर भी कुलकन्या पिताके द्वारा कन्यादान किये बिना इच्छित वरके पास नहीं जाती वैसे ही परमावगाढ सम्यक्त्व और केवलज्ञानके द्वारा अवश्य प्राप्त करतेकी स्थितिमें लाये जानेपर भी परममुक्ति अघानिकर्मोंकी निर्जरामें कारण समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक परम शुक्लध्यानके प्राप्त न होनेसे क्षायिक चारित्रके असम्पूर्ण होनेके कारण सयोगकेवलीके पास नहीं आती । इससे उत्कृष्ट चारित्रकी आराधनाको परममुक्तिका साक्षात् कारण कहा है ॥ २ ॥

आगे ज्ञानपूर्वक चारित्रका समर्थन करते हैं ---

जैसे सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान अज्ञान होता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र भी चारित्राभास होता है ॥ ३ ॥

पुनः उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं -

यतः मुमुक्षु अपने हित सम्यग्दर्शन आदिको अच्छी तरहसे जानकर अपने अहित मिथ्यात्व आदिको छोड़ देता है । अतः विज्ञान कर्मका निर्मूलन करनेवाला चारित्रका अगुआ है - चारित्रकसे पहले ज्ञान होता है ॥ ४ ॥

चतुर्थ अध्याय

अथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रे यत्नवतो जगद्विजयं कथयति -

देहेष्वात्ममतिर्दुःखमात्मन्यात्ममतिः सुखम् ।

इति नित्यं विनिश्चिन्वन् यतमानो जगज्जयेत् ॥ ५ ॥

देहेषु स्वगतेष्वौदारिकादिषु त्रिषु चतुर्षु वा परगतेषु तु । आत्ममतिः ---- आत्मेति मननं देह एवाहमिति कल्पनेति यावत् । यातमानः--- परद्रव्यनिवृत्ति--शुद्धस्वात्मानुवृत्तिलक्षणं यत्नं कुर्बन् । जगज्जयेत् --- सर्वज्ञो भवेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ दयेति सफलयितुमाह---

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः ।

न हि भूतब्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥ ६ ॥

कुतः? दयामूलत्वाद् धर्मस्य । यदार्षम् ---

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राणानुकम्पनम् ।

दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः^६ [महापु. ५।२१]

भूतब्रुहां --- जन्तून् हन्तुमिच्छूनाम् । कापि---स्नानदेवार्चनदानाध्ययनादिका ॥ ६ ॥

अथ सदयनिर्दययोरन्तरमाविष्करोति---

दयालोरब्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः ।

व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः ॥ ७ ॥

अदुर्गतिः । सुगमा ॥ ७ ॥

अथ निर्दयस्य तपश्चरणादिनैष्कल्यकथनपुरस्सरं दयालोस्तदकर्तृऽपि तत्फलपुष्टिलाभं प्रकाशयति---

आगे कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रमें प्रयत्नशिल व्यक्ति जगतको विजय करता है---

अपने या पराये औदारिक आदि शरीरोंमें आत्मबुद्धि---शरीर ही मैं हूँ या मैं ही शरीर हूँ इस प्रकारकी कल्पना दुःखका कारण है और आत्मामें आत्मबुद्धि---मैं ही मैं हूँ, अन्य ही अन्य है, ऐसा विकल्प सुखका हेतु है, ऐसा सदा निश्चय करनेवाला मुमुक्षु परद्रव्यसे निवृत्तिरूप और स्वद्रव्य शुद्ध सवरत्तामें प्रवृत्तिरूप प्रयत्न करे तो जगत् को वशमें कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है क्योंकि सर्वज्ञ का एक नाम लोकजित् भी है ॥ ५ ॥

दयाको चारित्रका मूल बतलाते हैं---

जिसको प्राणियोंपर दया नाही है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि जीवोंको मारनेवालेकी देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती ॥ ६ ॥

दयालु और निर्दय व्यक्तियोंमें अन्तर बतलाते हैं---

व्रतरहित भी दयालु पुरुषको देवगति सुलभ होती है और दयासे रहित व्रति पुरुषको भी नरकगति सुलभ होती है ॥ ७ ॥

आगे कहते हैं कि निर्दय पुरुषका तपश्चरण आदि निष्फल है और दयालुको तपश्चरण न करनेपर भी उसका फल प्राप्त होता है---

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु ।

निर्दयस्तत्फलैर्दिनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥ ८ ॥

तीव्रं व्रतयतु---अत्यर्थ नियमं करीतु । दीनः --- दरिद्रः ॥८॥

अथ दयार्द्रनुशंसयीः सिद्धार्थ क्लेशादेर्नैष्कल्यमभिलपति ---

मनो दयानुविध्दं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ।

मनो दयापविध्दं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥ ९ ॥

क्लिश्नासि -- अनशनादिना आत्मनः क्लेशं करोषि । दयापविध्दं -- कृपायुक्तम् ॥ ९ ॥

अथ विश्वासत्रासयोः सकृपत्वनिष्कृपत्वम्लत्वमुपलक्षयति---

विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालोर्वित्रसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च ।

प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि ॥ १० ॥

रिपवः---अपकर्तारः । सुहृदः---उपकर्तारः । स्तनपः--- अविज्ञातव्यवहारो डिम्भः ॥ १० ॥

अथ दयार्द्रस्यारोपितदोषो न दोषाय किं तर्हि बहुगुणः स्यादित्याह---

क्षिप्तोऽपि केनचिद् दोषो दयार्द्रं न प्ररोहति ।

तन्नार्द्रं तृणवत् किन्तु गुणग्रामाय कल्पते ॥ ११ ॥

केनचित् ---- असहिष्णुना । दोषः --- प्राणिवध-पैशुन्य-चौर्यादिः । न प्ररोहति -- अकीर्ति --
दुर्गत्यादि --- प्रदो न भवतीत्यर्थः । पक्षे प्रादुर्भवति (?) तन्नार्द्रे मथिताप्लुते प्रदेशे । यच्चिकित्सा ---

घ्न विरोहन्ति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः ।

निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम् ॥ [] ॥ ११ ॥

निर्दय मनुष्य चिरकाल तक तपस्या करे, खूब व्रत करे, दान देवे किन्तु उस तप, व्रत और दानके फलसे वह दरिद्र ही रहता है उसे उनका किंचित् भी फल प्राप्त नहीं होता । और केवल एक दयाको पालनेवाला उसके फलसे पुष्ट होता है ॥ ८ ॥

आगे कहते हैं कि दयालु और निर्दय व्यक्तियों। मुक्तिके लिए कष्ट उठाना व्यर्थ है--

हे मोक्षके इच्छुक ! यदि तेरा मन दयासे भरा है तो तू उपवास आदिके द्वारा व्यर्थ ही कष्ट उठाता है । तुफे दयाभावसे ही सिद्धि मिल जायेगी । यदि तेरा मन दयासे शून्य है तो तू मुक्तिके लिए व्यर्थ ही क्लेश उठाता है क्योंकि कोरे कायक्लेशसे मुक्ति नहीं मिलती ॥९॥

आगे कहते हैं कि विश्वासका मूल दया है और भयका मूल अदया है ---

दयालुका शत्रु भी विश्वास करते हैं और दयाहिनसे मित्र भी डरते हैं । ठीक ही है दूध पीता शिशु भी, जहाँ प्राण जानेका सन्देह होता है ऐसे स्थानसे बचकर ही इष्ट वस्तुको प्राप्त करना चाहता है ॥ १० ॥

आगे कहते हैं कि दयालुको झूठा दोष लगानेसे भी उसका अपकार नहीं होता, किन्तु उलटा बहुत अधिक उपकार ही होता है---

जैसे मटासे सींचे गये प्रदेश में घास नहीं उगती वैसे ही दयालु पुरुषपर किसी असहिष्णु व्यक्तिके द्वारा लगाया गया हिंसा, चोरी आदिका दोष न उसकी अपकीर्तिका कारण होता है और न दुर्गतिका, बल्कि उल्टे गुणोंको ही लाने में कारण होता है ॥११॥

अथ निर्दयस्यान्यकृतोऽपि दोषः संपद्यत इत्याह---

अन्येनाऽपि कृतो दोषो निस्त्रिशमुपतिष्ठते ।

तटस्थमप्यरिष्टेन राहुमर्कोपरागवत् ॥ १२ ॥

तटस्थं --- निकामुदासीनं वा । अरिष्टेन---आदित्यछादकग्रहविशेषेण । यथाह---

राहुस्स अरिद्वस्स य किंभूणं जोयणं अधोगंता ।

छम्मासे पव्वंते चंद रविं छादयंति कमा ॥३

तथा--- राहू अरिष्टविमाणध्दयादुवरि पमाणं गुलचउक्कं।

गंतूण ससिविमाणा सूरविमाणा कमे हुंति ॥[त्रि.सा.३३९-३४०]

राहुं समानमण्डलवर्तित्वात्तटस्थम् ॥ १२ ॥

अथ सकृदपि विरोधो विराधदारमसकृद्धिनस्तीति दृष्टान्तेन स्फुअयतिइ

विराधकंहन्त्यसकृद्विराधः सकृदप्यलम् ।

क्रोधसंस्कारतः पार्श्वकमठोदाहृतिः स्फुटम् ॥ १३ ॥

विराधः --- कृतापकारः ॥ १३ ॥

विशेषार्थ--- झूठा दोष लगाये जानेपर भी दयालु व्यक्ति शान्त रहता है उत्तेजित नहीं होता, इससे उसके अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। साथ ही उसका रहस्य खुल जानेपर दयालु का सम्मान और भी बढ़ जाता है ॥ ११ ॥

किन्तु निर्दय मनुष्यको अन्यकेद्वारा किया गया भी दोष लगाता है--

अन्यकेद्वारा किया गया दोष तटस्थ भी निर्दय व्यक्तिकेसिर आ पडता है। जैसे अरिष्ट विमानके द्वारा किया जानेवाला सूर्यग्रहण राहुकेसिर आ पडता है ॥ १२ ॥

विशेषार्थ --- आगम में कहा है---राहु और अरिष्टके विमान कुछ कम एक योजन व्यासवाले हैं। और वे चन्द्रमा और सूर्यके नीचे चलते हुए छह मास बीतनेपर पूर्णिमा और अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रमाको ढाँक लेते हैं। राहु और अरिष्टके विमानकी ध्वजासे चार प्रमाणांमुल ऊपर जाकर क्रमसे चन्द्रमा और सूर्यके विमान हैं। इस तरह सूर्यग्रहण अरिष्ट (केतू) के द्वारा किया जाता है किन्तु लोकमें राहुका नाम बदनाम होनेसे उसीकेद्वारा किया गया कहा जाता है। इसी तरह दयारहित व्यक्ति तटस्थ भी हो फिर भी लोग उसे ही दोषी मानते हैं ॥ १२ ॥

जिस जीवका कोई एक बार भी अपकार करता है वह जीव उस अपकार करनेवाले का बार-बार अपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा करते हैं---

जिस जीवका एक बार भी अपकार किया जाता है वह जीव अनन्तानुन्धी क्रोध कषायकी वासनाके वश होकर उस अपकार करनेवालेका बार-बार अपकार करता है यह बात भगवान् पार्श्वनाथ और कमठके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥ १३ ॥

विशेषार्थ --- पार्श्वनाथ भवगावन्का जीव जब मरुभूतिकी पर्यायमें था तो कमठ सहोदर भ्राता था। कमठने मरुभूतिकी स्त्रीके साथ रमण किया। राजाने उसे देशनिकाल दे दिया। इसीसे कमठ मरुभूतिका बैरी बन गया और उसका यह वैर पार्श्वनाथके भव तक बराबर चलता रहा। इस प्रकार एक बार किये गये अपकारके बदलेमें कमठके जीवने बराबर ही मरुभूतिके जीवका अपकार किया। अतः किसीका एक बार भी अपकार नहीं करना चाहिए ॥ १३ ॥

अथ दयाभावनापरस्य प्रीतिविशेषः फलं स्यादित्याह ---

तत्त्वज्ञानच्छिन्नरम्येतारार्थप्रीतिव्देषः प्राणिरक्षामृगाक्षीम् ।

आलिङ्ग्यालं भावयन्निस्तरग्ङस्वान्तः सान्द्रानन्दमग्ङत्यसग्ङः ॥ १४ ॥

भावयान्-- गुणानुस्मरणद्वारेण पुनः पुनश्चेतसि सन्निवेशयन् । निस्तरग्ङस्वान्तः--
निर्विकल्पमनाः ।

अंगाति--गच्छति । असग्ङः--यतिः ॥१४॥

अथ दयारक्षार्थं विषयत्यागमुपदिशति --

सद्वृत्तकन्दली काम्यामुद्भेदतिमुद्यतः ।

यैश्छिद्यते दयाकन्दस्तेऽपोहा विषयाखवः ॥ १५ ॥

काम्यां -- तत्फलार्थिभिः स्पृहणीयाम् ॥ १५ ॥

आगे कहतें हैं कि दयाकी भावनामें तत्पर व्यक्ति प्रीतिविशेषरूप फलको पाता है ---

परिग्रहका त्यागी यति तत्वाज्ञानके द्वारा प्रिय पदार्थोंमें रागको और अप्रिय पदार्थोंमें व्देषको नष्ट करके जीवद्यारूपी कामिनीका आलिंगनपूर्वक उसकेके गुणोंका पुनः-पुनः स्मरण करते हुए जब निर्विकल्प हो तो गाढ आनन्दका अनुभव करता है ॥ १४ ॥

दयाकी रक्षाकेलिए विषयोंकेत्यागका उपदेश देते हैं --

मुमुक्षुओंके द्वारा चाहने योग्य सम्यक्चारित्ररूपी कन्दलीको प्रकट करनेमें तत्पर दयारूपी कन्द जिनकेद्वारा काटा जाता हे उन विषयरूपी चूहोंको त्यागना चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ-- दयाको धर्मका मूल कहा है । मूलको कन्द भी कहते हैं । कन्दमें-से ही अंकुर फूटकर पत्र, कली आदि निकलेते हैं । इस सबके समूहको कन्दली कहते हैं । जैसे कन्दली कन्दका कार्य सम्यक्चारित्र है । सम्यक्चारित्र जीवदयामें-से ही प्रस्फुटित होता है । उस दयाभावको विषयोंको चाहरूपी चूहे यदि काट डालें तो उसमें-से सम्यक्चारित्रका उद्गम नहीं हो सकता है । अतः दयालु पुरुषको विषयोंसे बचना चाहिए । विषय हैं इन्द्रियोंके द्वारा प्रिय और अप्रिय कहे जानेवाले पदार्थ । उनकी लालसामें पडकर ही मनुष्य निर्दय हो जाता है । अतः दयालु मनुष्य अपने दयाभावको सुरक्षित रखनेके लिए उस सभी परिग्रहका त्याग करता है जिसको त्यागना उसके लिए शक्य होता है और जिसका त्यागना शक्य नहीं होता उससे भी वह भमत्वा नहीं करता । इस तरह वह सचेतनअचेतन सभी परिग्रहको छोडकर साधु बन जाता है और न इष्टविषयोंसे राग करता है और अनिष्टविषयोंसे व्देष । राग और व्देष तो दयाभावके शत्रु हैं इसीलिए कहा है-- द्यागम में रागादिकी अनुत्पत्तिको अहिंसा और रागादिकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है । यह जिनागमका सार है^६ अतः उत्कृष्ट दया अहिंसा ही है । दयामें-से ही अहिंसाकी भावना प्रस्फुटित होती है । वही अहिंसाकेरूपमें विकसित होती है ॥ १५ ॥

१. घ्रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्ते ति भासिदं समये ।

तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणागमस्स संरवेओड ॥

अथ इन्द्रियाणां प्रज्ञोपधातसामर्थ्यं कथयति---

स्वार्थरसिकेन ठकवद् विकृष्यतेऽक्षेणयेन तेनापि ।

न विचारसंपदः परमनुकम्पाजीवितादपि प्रज्ञा ॥ १६ ॥

स्वार्थरसिकेन --- स्वविषयलम्पटेन स्वप्रयोजनकामेन च । विकृष्यते -- दूरीक्रियते । प्रच्यावत इत्यर्थः । प्रज्ञा-
ता-बुद्धिः। अत्राप्युपमानभूता कामिनी गम्यते । अथवा प्रजानातीति प्रज्ञाऽतिविदग्धा स्त्रीति ग्राहम् ॥ १६
॥

अथ विषयिणोऽपायं दर्शयति --

विषयोमिषलाम्पटयात्तन्वन्नृजु नृशंसताम् ।

लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः ॥ १७ ॥

आमिषं--प्राणिलक्षणो ग्रासः । ऋजु -- सम्मुखं प्राञ्जलं च । नृशंसतां -- हिंसकत्वं अधः- अधोगतौ
अधोदवो च । अहह खेदे ॥१७॥

अथ विषयनिस्पृहस्येष्टसिद्धिमाचष्टे ---

यशाकथञ्चिदेकैव विषयाशापिशाचिका ।

क्षिप्यते चेत् प्रलप्यालं सिध्दयातीष्टमविघ्नतः ॥ १८ ॥

प्रलप्यालं--अलं प्रलपनेन, अनर्थकं न वत्कव्यमित्यर्थः । इष्टं --प्रकृतत्वात् सुचरितमूलभूतां दयाम्
॥ १८ ॥

अथ किं तत्सद्व्रतमित्याह ---

आगे कहते हैं कि इन्द्रियाँ मनुष्योंकी प्रज्ञाकी - यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको
नष्ट कर देती हैं ---

ठगकी तरह अपने निमित्तसे बल प्राप्त करके चश्रु आदि इन्द्रियोंमें- से कोई भी इन्द्रिय अपने
विषयकी लम्पटताके कारण न केवल मनुष्यकी प्रज्ञाको - उसकी यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करने की
शक्तिको विचारसम्पदासे दूर करती है किन्तु दयारूपी जीवनसे भी दूर कर देती है ॥ १६ ॥

विशेषार्थ - जैसे कोई भी ठग अपने मतलबसे किसी स्त्रीके भूषण ही नहीं छीनता किन्तु उसका
जीवन भी ले लेता है, उसे मार डालता है । उसी तरह इन्द्रिय भी मनुष्यकी बुद्धिको युक्तायुक्त विचारसे
ही भ्रष्ट नहीं करती किन्तु दयाभावसे भी भ्रष्ट कर देती है । इसलिए मुमुक्षुको सदा इन्द्रियोंको जीतनेका
प्रयत्न करना चाहिए ॥१६ ॥

विषयलम्पट मनुष्यकी दुर्गति दिखाते हैं -

जैसे मकड़ी मक्खी वगैरहको खानेकी लम्पटतासे अपने जालको फैलाती हुई नीचे गिर जाती है
उसी तरह खेद है कि दुर्बुद्धि प्राणी विषयरूपी मांसकी लम्पटताके कारण हिंसकपनेको विस्तारता हुआ
नरकादि गतिमें जाता है ॥ १७ ॥

आगे कहते हैं कि जो विषयोंसे निस्पृह रहता है उसकी इष्टसिद्धि होती है -

अधिक कहनेसे क्या ? यदि जिस - किसी भी तरह एक विषयोंकी आशारू प पिशाचीको ही भगा दिया जाये, उससे अपना पीछा छुड़ा लिया जाये तो इष्ट - चारित्रकी मूल दया नामक वस्तु विघ्नकी बिना सिद्ध हो सकती है ॥ १८ ॥

सुचरित्ररू पी छायावृक्षका मूल दयाका कथन करके उसके स्कन्धरू प समीचीन व्रतका कथन करते हैं ---

धर्माभृत (अनगार)

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिव्रतम् ।

तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सदृशश्चोपबृंहणात् ॥ १९ ॥

१. चुरा - चौर्यम् । अब्रह्म - मैथुनम् । सत् - प्रशस्तम् । तत्र सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतम्, अदत्त - परिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ । द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च --

पढेमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे सव्वदव्वाणि ।

सेसा महव्वया खलु तदेकदेसम्मिह दव्वाणं ॥ [विशेषाव. भा. २६३७ गा.] ॥ १९ ॥

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदनापूर्वक निवृत्तिको व्रत कहते हैं । सम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेसे तथा सम्यग्दर्शनको बढ़ानेमें कारण होनेसे उन्हें समीचीन या प्रशक्त व्रत कहते हैं ॥ १९ ॥

विशेषार्थ - कषायसहित आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं । प्राणीको पीडा देनेवाले वचन बोलना असत्य है । बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करना चोरी है । मैथुनको अब्रह्म कहते हैं । ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । अहिंसा व्रतमें सभी जीव समाविष्ट हैं अर्थात् किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । इसी तरह बिना दी हुई वस्तुके त्यागमें और परिग्रह त्यागमें सभी द्रव्य आते हैं । कोई भी वस्तु बिना दिये हुए नहीं लेना चाहिए और न किसी भी वस्तुमें यह मेरी है इस प्रकारका ममत्व भाव रखना चाहिए । किन्तु असत्य त्याग और मैथुन त्याग व्रत द्रव्यके एकदेशको लेकर हैं । अर्थात् असत्य त्यागमें वचन मात्रका त्याग नहीं है किन्तु असत्य वचनका त्याग है और मैथुन त्यागमें मैथुनके आधारभूत द्रव्योंको ही त्याग है । कहा भी है - घपहले अहिंसा व्रतमें सभी जीव और तीसरे तथा अन्तिम व्रतमें सभी द्रव्य लिये गये । शेष दो महाव्रत द्रव्योंके एकदेशको लेकर होते हैं"इन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रिभोजन त्याग छठाव्रत भी रहा है । भगवती आराधनाकी विजयोदया टीका (गा. ४२१) में लिखा है कि प्रथम - अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें रात्रिभोजनत्याग नामक छठा व्रत है । ग्रन्थकार पं. आशाधरने भी अपनी टीकामें अणुव्रत नामसे इस छठे व्रतका निर्देश किया है । किन्तु पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (७।१) में व्रतोंका वर्णन करते हुए रात्रिभोजन नामक छठे अणुव्रतका निषेध करते हुए अहिंसाव्रतकी भावनामें उसका अन्तर्भाव कहा है । श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थ भाष्य (७।२) की टीकामें भी यह प्रश्न उठाया है कि यदि अहिंसाव्रतके पालनके लिए होनेसे असत्यविरति आदि मूल

गुण है तो रात्रिभोजनविरति भी मूलगुण होना चाहिए। इसके अभावमें तो मूलगुण ही अपूर्ण रहते हैं। अतः मूलगुणोंके ग्रहणमें उसका ग्रहण हो जाता है। जिस तरह रात्रिभोजन त्याग सब व्रतोंका उपकारक है उस तरह उपवासादि नहीं है इसलिए रात्रिभोजनत्याग महाव्रतीका मूल गुण है शेष उत्तरगुण है। अथवा उपवासकी तरह आहारका त्याग होनेसे वह तप ही है। श्री सिध्दसेन गणिने जो कहा है वही उनके पूर्वज जिनभद्रगणि

१. भ. आ. विजयोदया गा. ४२१ में उद्धृत।

चतुर्थ अध्याय

अथ व्रतमहिमानं वर्णयति -

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्।

उद्द्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक्॥ २० ॥

प्रेक्षतेतरां - ज्ञानापेक्षया तरां प्रत्ययः -। उद्योतादिषु ज्ञानमुखस्यापि सम्यक्त्वेनापेक्षणीत्वात्। अतिशयाधाने - कर्मक्षपणलक्षणशक्त्युत्कर्षसपादने। फलसंसाधने - इन्द्रादिपदप्रापणपूर्वकनिर्वाणलक्षणस्य नानाविधापन्निवारणलक्षणस्य च फलस्य साक्षादुत्पादने। एतेन संक्षेपतः सम्यक्त्वचारित्रे द्वे एवाराध्ये, सम्यक्चारित्रमेकमेव चेत् फलं स्यात् ॥ २० ॥

क्षमाश्रमणने विशेषावश्यक भाष्य (गा. १२४० आदि) में कहा है। रात्रिभोजन विरमण मुनिका मूल गुण है क्योंकि जैसे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंमें - से यदि एक भी न हो तो महाव्रत पूर्ण नहीं होते। इसी तरह रात्रिभोजनविरतिका अभावमें भी महाव्रत पूर्ण नहीं होते। अतः मूलगुणों (महाव्रत) के ग्रहणमें रात्रिभोजनविरतिका ग्रहण हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी रात्रिभोजन विमण नामका षष्ठ व्रत नहीं रहा है ॥ १९ ॥

व्रतकी महिमाका वर्णन करते हैं --

शंका आदि मलोंको दूर करनेमें, कर्मोंका क्षय करनेवाली आत्मशक्तिमें, उत्कषता लानेमें और इन्द्रादि पदको प्राप्त कराकर मोक्षरूप फल तथा अनेक प्रकारकी आपत्तियोंका निवारणरूप फलको साक्षात् उत्पन्न करनेमें सम्यग्दर्शनको जिसका मुख उत्सुकतापूर्वक देखना पडता है उस व्रतका माहात्म्य आश्चर्यकारी है ॥ २० ॥

विशेषार्थ - यहाँ लक्षणासेव्रतके मुखका अर्थ व्रतकी प्रधान सामर्थ्य लेना चाहिए। तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें अस्त्रव तत्त्वका वर्णन है और उसके पहले ही सूत्रमें व्रतका स्वरूप कहा है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें यह प्रश्न किया गया है कि व्रतको आस्त्रवका हेतु बतलाना तो उचित नहीं है उसका अन्तर्भाव तो संवरके कारणोंमें होता है। आगे नौवें अध्यायमें संवरके हेतु गुप्ति समिति कहे गये हैं उनमें संयम धर्ममे व्रत आते हैं ? इसका उत्तर दिया गया है कि नौवें अध्यायमें तो संवरका कथन है

और संवर निवृत्तिरूप होता है। किन्तु इन व्रतोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। हिंसा, असत्य और बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि छोड़कर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। तथा ये व्रत गुप्ति आदि संवरके साधनोंके परिकर्म हैं। जो साधु व्रतोंमें अभ्यस्त हो जाता है वह सुखपूर्वक संवर करता है इसलिए व्रतोंका पृथक् कथन किया है। सर्वार्थसिद्धिके रचयिता इन्हीं पूज्यपादसवामीने समाधि तन्त्रमें कहा है --अव्रत अर्थात् हिंसा आदिसे अपुण्य अर्थात् पापका बन्ध होता है और व्रतोंसे पुण्यबन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनोंका

जम्हा मूलगुणच्चय न होंति तव्विरहियस्त पडिपुन्ना ।

तो मूलगुणगहणे तग्गहणमिहत्थओ नेयं"- विशेषा. १२४३ गा.

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।

अव्रतानीच मोक्षार्थी व्रतान्यापि ततस्त्यजेत् ॥

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।

त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ - ८३-८४ श्लो. ।

धर्मावृत्त (अनगार)

अथ सकलेतरविरत्याः स्वामिनौ निर्दिशति -

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।

हिंसादेविरतः कात्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः ॥ २१ ॥

गलद्वृत्तमोहः - क्षयोपशमरूपतया हीयमानश्चारित्रमोहो यस्यासौ ।
सामायिकछेदोपस्थापनयोःसंयमासंयमस्य च विवक्षितत्वात्त्रयस्यैवात्रत्येदानीतनजीवेषु संभावत् ।
कात्स्न्यात् --- साकल्यतः । अंशतः - एकदेशेन ॥ २१ ॥

अथ चतुर्दशभिः पद्यैरहिंसाव्रतमाचष्टे ।

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रसस्थावराडिनाम् ।

प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः ॥ २२ ॥

विनाश मोक्ष है। इसलिए मुमुक्षुको अव्रतोंकी भी छोड़ देना चाहिए। अव्रतोंको छोड़कर व्रतोंमें निष्ठित रहे और आत्माके परमपदको प्राप्त करके उन व्रतोंको भी छोड़ दे।

अव्रत पापबन्धका कारण है तो व्रत पुण्यबन्धका कारण है इसलिए यद्यपि अव्रतकी तरह व्रत भी त्याज्य है किन्तु अव्रत सर्वप्रथम छोड़ने योग्य है और उन्हें छोड़नेके लिए व्रतोंको स्वीकार करना आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको स्वीकार किये बिना हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह पापसे नहीं बचा जा सकता और इनसे बचे बिना आत्माका उद्धार नहीं हो

सकता । शास्त्रकार कहते हैं कि परमपद प्राप्त होनेपर व्रतोंको भी छोड़ दे । परमपद प्राप्त किये बिना पुण्यबन्धकेभयसे व्रतोंको स्वीकार न करनेसे ता पापमें ही पडना पडेगा । केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परमपद प्राप्त नहीं हो सकता । उसकेलिए तो सम्यक्चारित्र ही कार्यकारी है और सम्यक्चारित्रका प्रारम्भ व्रतोंसे ही होता है । ये व्रत ही हैं जो इन्द्रियोंको वशमें करनेमें समर्थ होता है । अतः व्रतका माहात्म्य कम नहीं है । उनको अपनाये बिना संसारसागरको पार नहीं किया जा सकता ॥ २० ॥

व्रतको दो भेद हैं -- सकलविरति और एकदेशविरति । दोनोंकेस्वामी बतलाते हैं

जो पाँचो पापोंसे पूरी तरहसे विरत होता है उसे यति कहते हैं और जो एकदेशसे विरत होता है उसे श्रावक कहते हैं । किन्तु इन दोनोंमें ही तीन बातें होनी आवश्यक हैं - १. जीवादि पदार्थोंका हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे जाग्रत् ज्ञान होना चाहिए । २. यतिके प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए और श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए, क्योंकि इस कालमें इस क्षेत्रमें जीवोंके सामायिक और छेदोपस्थापना संयम तथा संयमासंयम ही हो सकता है । ३. देखे गये, सुने गये और भोगे गये भोगोंमें अरुचि होना चाहिए । इस तरह इन तीन विशेषताओंसे विशिष्ट व्यक्ति उक्त व्रत ग्रहण करनेसे व्रती होता है ॥ २१ ॥

आगे चौदह पद्योंसे अहिंसाव्रतको कहते हैं । सबसे प्रथम हिंसाका लक्षण कहते हैं - योगसे त्रस और स्थावर प्राणियोंकेऔर भावरूप प्राणोंका घात करनेका हिंसा कहते हैं ॥ २२ ॥

चतुर्थ अध्याय

तत्र तावत् हिंसालक्षणमाह- व्यपरोप्यन्ते - यथासंभवं वियोज्यन्ते । प्रमत्तोगतः - प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः तस्य योगः - सम्बन्धः तस्मात्ततः । रागाद्योवेशादित्यर्थः । प्राणाः - इन्द्रियादयो दश । तदुक्तम् -

पंचवि इंदियपाणा मणवचि-काएसु तिण्णि बलपाणा ।

आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाण ॥ [गो. जी. १३० गा.]

ते च चित्सामान्यानुविधायी पुद्गलपरिणामो द्रव्यप्राणाः । पुद्गलसामान्यानुविधायी चित्परिणामो भावप्राणाः । तदुभयभाजो जीवाः संसारिणस्त्रसाः स्थावराश्च । तत्र स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दान् स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः - श्रोत्रेषु क्रमेण द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुभिः पञ्चभिश्च पृथग् ज्ञानं ते (जानन्तो) द्वीन्द्रियादयश्चतुर्धा त्रसाः । तद्विकल्पश्लोका यथा ---

जलूका शुक्ति-शम्बूक-गण्डू-पद-कपर्दकाः ।

जठरकृमिशंखाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मताः ॥

विशेषार्थ - इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द वृत्तिका विचार किये बिना जो प्रवृत्ति करता है वह प्रमत्त है । अथवा जा कशायके आवेशमें आकर हिंसा आदिके कारणोंमें संलग्न रहते हुए अहिसामें शठतापूर्वक प्रवृत्त होता है वह भी प्रमत्त है । अथवा राजकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा ये चार कथाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे जो प्रमादी है वह प्रमत्त है । अथवा कषाय सहित आत्मपरिणामका नाम प्रमत्त है । उसके योगसे अर्थात् रागादिके आवेशसे । प्राण दस हैं ---

पाँच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयु प्राण - ये दस प्राण होते हैं । ये प्राण दो प्रकारके हैं - द्रव्यप्राण और भावप्राण । चित्सामान्यका अनुसरण करनेवाले पुद्गलके परिणामको द्रव्यप्राण कहते हैं और स्थावर । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इनका क्रमसे विषय है । जो जीव क्रमसे आदिकी दो इन्द्रियोंसे जानता है वह चौइन्द्रिय जीव है और जो पाँचों इन्द्रियोंसे जानता है वह पंचेन्द्रिय जीव है । ये सब त्रस हैं । इनके कुछ भेद इस प्रकार हैं -

२. संवुक्कमादुवाहा संखासिपी अपादगा य किमी ।

जाणंति रसं फासं जे ते वेइंदिया जीवा ॥

जूगागुंभीमक्कडपिपीलिया विच्छिदया कीडा ।

जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥

उइंसमसयमक्खियमधुकरभमरापतंगमादीया ।

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसइण्हू ।

जलचरथलचरखचर वलिया पंचेदिया जीवा ॥

- पञ्जास्ति. ११४-११७ गा. ।

धर्माभृत (अनगार)

कुन्थुः पिपीलिका गोभी यूका- मत्कुणवृश्चिकाः ।

मर्कोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति देहिनः ॥

पतडा मशका दंशा मक्षिकाकीटगर्मुतः ।

पुत्रिका चञ्चरीकाद्याश्चनुरक्षाः शरीरिणः ॥

नारका मानवा देवास्तिर्यञ्चश्च चतुर्विधाः ।

सामान्येन विशेषेण पञ्चाक्षा बहुता स्थिताः^६ [अमित. पञ्चसं. १।१४७-१५०]

द्रव्यन्द्रियाकारा यथा -

यवनाल- मसूरातिमुक्तकेन्द्रध्वंसन्निभाः ।

श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधाकृतिः ॥ [अमि. पं. सं. १।१४३]

त्रसक्षेत्रं यथा -

छुववाद मारणंतियजिणक्कवाडादिरहियसेसतसा ।

तसनाडि बाहिरम्हि य णत्थि ति जिणेहि णिदिहं ॥ []

स्पर्शनेनैकेन स्पर्श जानन्तः एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः पञ्च स्थावराः । तेषां च बुद्धिपूर्वव्यापारादर्शनेऽप्यण्डान्तलीनादित्रसवज्जीवत्वं निश्चीयते । तदुक्तम्-

शम्बूक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैरकेकीडे ये दो- इन्द्रिय जीव रस और स्पर्शको जानते हैं । जूँ, गुम्मी, मच्छर, मक्खी, भौरा, मधुमक्खी, पतंगा आदि तेइन्द्रिय जीव स्पर्श- रस - गन्धको जानते हैं । डाँस, मच्छर, मक्खी, भौरा, मधुमक्खी, पतंगा आदि चौइन्द्रिय जीव स्पर्श- रस - गन्ध और रू पको जानते हैं । देव, मनुष्य, नारकी, जलचर, थलचर और नभचर पशु-पक्षी ये पंचेन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गन्ध, रू प और शब्दको जानते हैं- ॥ २२ ॥

त्रस जीवोंका निवासस्थान इस प्रकार कहा है - उपपाद, मारणान्तिक समुद्घात और कपाट आदि समुद्घात करनेवाले सयोगकेवलि जिनको छोडकर शेष त्रस त्रसनाडीके बाहर नहीं रहते एह्युएए जिनदेवने कहा है ।

उक्त गाथा आशाधरकी टीकामें उद्धृत है । गोमट्टसार जीवकाण्डमेंजिणक्कवाडादिरहियपाठ नहीं हैं । शेष सब यही है । तिलोयपण्णत्ति (२।८) में त्रस नाडीका परिमाण बतलाते हुए कहा है - उपपाद मारणान्तिक समुद्घातमें परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीका आश्रय करकेसारा लोक ही त्रसनाली है । त्रसजीव त्रसनालीमें ही रहते हैं । लोककेठीक मध्यसे एक राजू चौडी लम्बी और केवली समुद्घात अवस्थामें त्रस जीव त्रस नाडीकेबाहर पाये जाते हैं । केवली समुद्घातकी चार अवस्थाएँ हैं - दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण । तिलोयपण्णत्तिके अनुसार लोकपूरण समुद्घातमें केवलीके आत्मप्रदेश त्रसनाडीके बाहर पाये जाते हैं । किन्तु ऊपरवाली गाथाके अनुसार कपाट- प्रतरमें भी त्रसनाडीके बाहर पाये जाते हैं । गोमट्टसारवाली गाथामें केवली समुद्घातका निर्देश नहीं है। किन्तु उसकी टीकामें कपाट आदि अवस्थामें आत्मप्रदेशोंको त्रसनालीकेबाहर बतलाया है ।

१. उववादमारणंतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेस तसा^१ - गो. जी. १९८ गा. ।

२. उववाद मारणंतिय परिणद तस लोयपूरणेण गदो ।

केवलिणो अवलंविद्य सव्वजगो होदि तसणाली॥ - ति० प० २।८।

चतुर्थ अध्याय

अंडेसु पवडुंता गब्भडु माणुसा य मुच्छगया ।

जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥ [पञ्चास्ति. ११३ गा.]

ते च पञ्चतयेऽपि सूक्ष्माः सर्वत्र सन्ति । स्थूलास्त्वमे -

मृत्तिका बालिका चैव शर्करा चोपलः शिला ।

लवणादयस्तथा ताम्रं त्रपुषा (त्रपुसीसकमेव च) ॥ [तत्त्वार्थसार ५१]

मणिविद्रुमवर्णः । शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिताः शुद्धपृथिवीविकाराः । शेषाः खरपृथ्वीविकाराः । एतेष्वेव पृथिव्यष्टकमेवादशैला द्वीपा विमानानि भवनानि वेदिका प्रतिमा तोरणस्तूपचैत्यवृक्षजम्बूशाल्मलीघातक्यो रत्नाकरादयश्चान्तर्भवन्ति । अवश्यायो रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्राकाशात् पतितं सूक्ष्मोदकम् । कहिका

छअवश्यायो हिमं चैव महिका बिन्दुशीकराः ।

शुद्धं घनोदकं बिन्दुर्जीवा रक्ष्यास्तथैव ते ॥ []

घूमाकारजलं कुहडरू पं धमरोत्यर्थः । बिन्दुः (स्थूल -) बिन्दुजलम् । शीकरः सूक्ष्मबिन्दुजलम् । शुद्धं चन्द्रकान्तजलं सद्यःपतितजलं वा । घनोदकं समुद्रहृदघनवाताद्युद्भवम् । च शब्देन वापीनिर्झरादिजलं करका अपि गृह्यन्ते ।

जो जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा केवल स्पर्शको जानते हैं वे एकेन्द्रिय हैं । पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं । इन जीवोंमें यद्यपि बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता है फिर भी जैसे अण्डेमें त्रसजीवका निश्चय किया जाता है उसी तरह इनमें भी जीवका निश्चय किया जाता है । कहा भी है - छअण्डावस्थामें, गर्भावस्थामें तथा मूर्च्छित अवस्थामें बुद्धिपूर्वक व्यापार न देखनेपर जिस प्रकार जीवपनेका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंका भी निश्चय किया जाता है । ये पाँचों स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल भी होते हैं । सूक्ष्म तो सर्वत्र पाये जाते हैं । स्थूल जीव इस प्रकार हैं - मिट्टी, बालिका- रुक्ष अंगार आदिसे उत्पन्न हुई बालुका, शर्करा - कठोरवज्री, गोल पाषाण, बडा पाषाण, लवण, लोहा, ताँबा, राँगा, सोसा, चाँदी, सोना, हीरा, हरिताल, ईंगुर, मेनसिल, तूतिया, सुरमा, मूँगा, अभ्रकका चुरा, बडी-बडी मणियोंके टुकडे, गोमेद, रुजक- अलसीके फूलकी रंगकी लाजावर्तमणि, अंक- लाल रंगकी पुलिकमणि, स्फटिक, पद्यरागमणि, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, जलकान्त, सूर्यकान्त, गैरिक - लालमणि, चन्दनके समान रंगवाली मणि, मरकतमणि, पुष्परागमणि, नीलमणि, लाल रंगकी पाषाणमणि इन सब पृथिवीकायिक जीवोंकी रक्षा यतियोंको करनी चाहिए । इनमें-से शर्करा, गोल पाषाण, बडा पाषाण, हीरा, मूँगा ये तो खर पृथ्वीके विकार हैं शेष शुद्ध पृथिवीके विकार हैं । इनमें ही आठ पृथिवियाँ (सात नरककभूमियाँ एक सिद्धशिला), मेरु आदि पर्वत, द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, धातकीवृक्ष और रत्नाकर आदिका अन्तर्भाव होता है ।

ओस, बर्फ, कोहरा, जलकी बडी बूँद, जलकी सूक्ष्म बिन्दु, चन्द्रकान्तसे झरता हुआ या तत्काल गिरा जल, समुद्र- तालाब आदिसे वायुके द्वारा उठाया गया जल, च शब्दसे वापी- झरनेका जल जलकायिक जीवरू प है । इनकी भी रक्षा करनी चाहिए ।

१. त्रपुइत्यतोऽग्रे मणिविद्रुमपूर्वपर्यन्तं बहुपाठः प्रतौ नास्ति भव्य कु. च. टीकानुसारेण लिखितम् ।
२. अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके । पूतिकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः ।- तत्त्वार्थसार ६३ ।
३. उत्तराध्ययन सूत्र ३६। ७०-१०० में भी जीवके इन्हीं भेदोंको कहा है ।

धर्माभृत (अनगार)

ज्वालाडारस्तथार्चिश्च मुर्मुः शुध्द एव च ।

अनलश्चापि ते तेजोजीवा रक्ष्यास्तथैव च []

अर्चिः प्रदीपशिखाद्यग्निं (- द्यग्रम्) । मुर्मुः कारीषोऽग्निः । वज्रविद्युत्सूर्यकान्ताद्युध्वोऽग्निः
सद्यः पातितो वा अनलः सामान्योऽग्निर्धूमादिसहितः । च शब्देन
स्फुलिङ्गवाडवाग्निनन्दीश्वरभूमैनुण्डिकामुकुटानलादयो गृह्यन्ते ।

वात उद्भ्रमकश्चान्य उत्कलिर्मण्डलिस्तथा ।

महान् घनस्तनुर्गुञ्जास्ते पाल्याः पवनाडिनः । []

वातः सामान्यरूपः । उद्भ्रमः यो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति । उत्कलिः लहरीवातः । मण्डलिः यः
पृथिवीलग्नो भ्रमन् गच्छति । महान् महावातो वृक्षादिमोटकः । घनः घनोदधिर्घननिलयः तनुः तनुवातो
व्यञ्जनादिकृतः । गुञ्जाः उदरस्थाः पञ्जवाताः । लोप्रच्छादकभवनविमानाधारादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्ति ।

ज्वाला, अंगार, दीपककी लौ, कण्डेकी आग, वज्र, बिजली या सुर्यकान्तमणिसे उत्पन्न हुई
अग्नि, सामान्य आग जिसमें-से धुआँ निकलता हो, च शब्दसे स्फुलिंग, समुद्रकी बडवानल, नन्दीश्वरके
धूमकुण्ड और अग्निकुमारोंके मुकुटोंसे निकली आग ये सब तैजस्कायिक जीव हैं । इनकी भी उसी
प्रकार रक्षा करनी चाहिए ।

सामान्य वायु, जमीनसे उठकर धूमते हुए रूपर जानेवाली वायु, लहरीरूप वायु जो पृथ्वीसे
लगते हुए घुमती है, महावायु जो वृक्षोंको उखाड देती है, घनोदधिवायु, तनुवायु, उदरस्थवायु ये सब
वायुकायिक जीव हैं । इनकी भी रक्षा करनी चाहिए ।

मूलसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे हल्दी, अर्द्रक वगैरह । अग्रसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति
जैसे बेला, अपामार्ग आदि । पर्वसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति ईख, बेंत वगैरह । कन्दसे उत्पन्न
होनेवाली वनस्पति जैसे आलू वगैरह । स्कन्धसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे देवदारु, सलई आदि ।
बीजसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे गेहूँ, जौ आदि । मूल आदिके बिना भी जो वनस्पति अपने योग्य
पुद्गल आदि उपादान कारणसे उत्पन्न होती है वह सम्मूर्च्छिम है । देखा जाता है कि सींगसे सार और
गोबरसे कमलकी जड बीजके बिना उत्पन्न होती है । अतः वनस्पति जाति दो प्रकारकी है - एक बीजसे
उत्पन्न होनेवाली और एक सम्मूर्च्छिम । जिन जीवोंको एक ही साधारण शरीर होता है उन्हें अनन्तकाय
या साधारणशरीर कहते हैं जैसे गुडूची, स्नुही आदि । या अनन्त निगादिया जीवोंको आश्रित होनेसे
जिनकी काय अनन्त है वे अनन्तकाय हैं अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक जैसे मूली वगैरह । कहा है ---

यतः एक भी अनन्तकाय वनस्पतिका घात करनेकी इच्छावाला पुरुष अनन्त जीवोंका घात
करता है अतः सम्पूर्ण अनन्तकाय वनस्पतियोंका त्याग अवश्य करना चाहिए ।

१. ज्वालाडारास्तथार्चिश्च मुर्मुः शुद्ध एव च । अग्निश्चेत्यादिका जीवा ज्वलनकायिकाः ॥

ड

- तत्त्वार्थ. ६४ ।

२. - रधूमकुण्डि- भ. कु. च. ।

३. महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः । वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः ॥

- तत्त्वार्थ. ६५ ।

४. एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् । करणीयमशेषाणां

परिहरणमनन्तकायानाम् ॥ पुरुषार्थ सि., १६२

मूलाग्रपर्वन्दोत्थाः स्कन्धबीजसमुद्भवाः ।

सम्मूर्च्छिमास्तथानन्तकायाः प्रत्येककायिकाः ॥

त्वग्मूलकन्दपत्राणि प्रवालः प्रसवः फलम् ।

स्कन्धो गुच्छस्तथा गुल्मस्तृणं वल्ली च पर्व च ॥

शैवलं पणकः किण्वं कवकः कुहणस्तथा ।

बादराः सूक्ष्मकायास्तु जलस्थलनभोगताः ॥

गूढसन्धिशिरावर्वसमभङ्गः महीरुहम् ।

छिन्नोद्भवं च सामान्यं प्रत्येकमितरद्वपुः ॥

वल्लीवृक्षतृणाद्यं स्यादेकाक्षं च वनस्पतिः ।

परिहार्या भवन्त्येते यतिना हरिताड्भिः न^१ []

मूलोत्थाः येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रार्द्रकादयः । पर्वोत्थाः इक्षुवेत्रादयः । कन्दोत्थाः कदलीहपिण्डालुकादयः । स्कन्धोद्भवाः शल्लकीपालिभद्रादयः । बीओद्भवाः यवगोधूमादयः यवगोधूमादयः । सम्मूर्च्छिमाः मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म स्वयोग्यपुद्गलोपादानकारणात् । दृश्यते हि शृङ्गः च्छैरो गोमयाच्छालूकं बीजमन्तरेणो त्पत्तित् । एते वनस्पतिजातिगबीजोद्भवा सम्मूर्च्छिमा चेति द्विधा स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यं । अनन्तकायाः अनन्तः साधारणः कायो येषां ते साधारणाद्भिः स्नुहिगुडुच्यादयः । प्रत्येककायिकाः एकमेकं प्रति प्रत्येकं पृथक् भिन्नो भिन्नोः कायो येषामस्ति ते पूगनालिकेरादयः । उक्तं च--

एकमेकस्य यस्याद्भिः प्रत्येकद्भिः स कथ्यते ।

साधारणः स यस्याद्भिः परैर्बहुभिः समम् ॥ [अभि. पं. सं. १/१०५]

प्रत्येकाला भिन्न-भिन्न शरीर जिनका होता है उन वनस्पतीयोंकां प्रत्येककायिका कहते हैं जैसे नारियल, सुपारी आदि । कहा भी है----, जिस एक वनस्पतीका एक शरीर होता है उसे प्रत्येकशरीर कहते हैं । और बहुतइसे जीवोंका एक ही सामान्य शरीर हो तो उसे साधारण शरीर कहते हैंड ।

ऊपर जो मूल आदिसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पती कही है वह अनन्तकाय भी होती है और प्रत्येककाय भी होती है । तथा सम्मूर्च्छिम भी दोनों प्रकारकी होती हैं । दोनों ही प्रकारकी वनस्पतियोके

अवयव इस प्रकार है--- छाल, पुष्प, गुच्छा, झाड़ी। पुष्पके बिना उत्पन्न होनेपाले फलोंके फल कहते है। जिसके पुष्प ही होते है फल नहीं उन्हे पुष्प कहते है। जिसके पत्र ही होते है फल या पुष्प नहीं होते उसे पत्र कहते है। पानीपर जमी काईको शैवल कहते है। गीली ईटोंकी भूमि और दीवारोंपर जो कोई लग जाती है उसे पणक कहते है। वर्षाऋतुमे जो कुकुरमुत्ते उगते है उन्हे किण्व कहते है। श्रृग वनस्पतिसे उत्पन्न हुए जटाकार अंकुरोंके कवक कहते है। भोजनपर आयी फुईको कुहण कहते है। पृथिवीकायिक आदि पाँचो बादरकाय भी होते है और सूक्ष्मकाय भी होते है। जिनकी सन्धि, सिरा पर्व अदृश्य होते है, तोंडने पर समभंग होता है तथा मध्यमें तार आदि लगा नहीं रहता, जो काटनेपर पुनः उग आती है वह सब साधारण वनस्पति है, इसके विपरीत प्रत्येक वनस्पति है। लता, वृक्ष, तृण आदि एकेन्द्रिय वनस्पति है। यतिको इन सबका बचाव करना चाहिए। आगमसे

५. मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा । सम्मूछिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः॥--
- तत्त्वार्थसार ६६
६. पारिभ---भ.कु.च.।
७. च्छारो---भ.कु.च.।

मूलोत्थादयोऽनन्तकायाः प्रत्येककायाश्च भवन्ति। तथा सम्मूछिमा अपीति योज्यम् । त्वगित्यादि सम्मूछिमवनस्पतिजातिस्वरूपप्रतिपादनार्थं मिदमुभयावयवख्यापनार्थं वा । त्वक् छल्ली । प्रसवः पुष्पम् । गच्छः एककालीनबहुसमूहो जातिमल्लिकादिः । गुल्मः कंधारिकाकरमर्दिकादिसंघातः । किं च पुष्पमन्तरेण यस्योत्पत्तिः फलानां स फल इत्युच्यते । यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति न फलानि स पुष्प अत्युच्यते । यस्य पुत्राण्येव भवन्ति न पुण्याणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि बोध्यम् । शैवलमुदकगतकायिका हरितवर्णा । पिणकः सार्द्रैष्टका भूमिकुडयोद्रवकालिका पञ्चवर्णोल्लिरित्यन्ये । किण्वं वर्षाकालान्द्रवच्छत्राणि । कवकः- श्रृङ्गोन्द्रवाङ्गराः जटाकाराः । कुहणः आहारकंजिकादिगतपुष्पिका । बादरा स्थूलाः पृथिवीकायिकादयः पञ्चाप्येते पूर्वोत्काः । सूक्ष्मकायाः सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्चाङ्गालासंख्यातभागशरीराः । गूढानि अदृश्यमानानि । समभङ्गं त्वचारहितम् । अरोरुहं सूत्राकारदिवर्जितं मंजिष्ठादिकम् । च्छिन्नोन्द्रवं छिन्नने छेदंनोन्द्रवति रोहाति । उपलक्षणाद् भिन्नरोहि च । सामान्यं साधारणम् ।

मूले कंदे छल्लो पवालसालदलकुसुमफलवीए ।

समभंगे सदि णंता असमे सदि हुंति पत्तेया ॥

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वापि बहुलतरी ।

छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया दु तणुकदरी ॥ [गो. जो. १८८-१८९]

वल्लोत्थादि । प्रत्येकशरीरं किंभूमिति पृष्टे सत्युत्तरमिदम् --- वृक्षाः पुष्फलोपमाः वनस्पतिः फलवान् । हरिताङ्गिनः प्रत्येकाङ्गः साधारणाङ्गाः सर्वेऽपि हरितकाया इत्यर्थः । जीवत्वं चैषामागतः

सर्वत्वगपहरणे मरणादाहारादिसंज्ञास्तित्वच्च निश्चेयम् । ते ह्युदकादिना शाद्वला भवन्ति । स्पृष्टाश्च लज्जिकादयः संकुचन्ति । वनिताग्दूषादिना वकुलोदयो हर्षविकासादिकं कुर्वन्ति । निधानादिशि पादादिकं प्रसारयन्तीति क्रमेणाहार--भय--मैथुन--परिग्रहसंज्ञावन्तः किल वृक्षाः स्युः । निगोतलक्षणं यथा---

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥

जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थदु मरणं भवे अणंताणं ।

वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ [गो. जी. १९२-१९३]

सिद्ध है कि इन सबमें जीव होता है तथा यदि पूरी छाल उतार ली जाये तो इनका मरण भी देखा जाता है । इनमें आहार आदि संज्ञा भी पायी जाती है । इससे इनमे जीवत्वका निश्चय होता है । पानी देने पर हरे-भरे हो जाते हैं । लाजवन्तीको छे पर वह संकुचित हो जीत है । स्त्रीके कुल्लेके पानीसे वकुल आदि विकसित होते हैं । जिस दिशामें धन गडा होता है वृक्षकी जड़ें उधर फैलती हैं । इस प्रकार वृक्षोंमें क्रमसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा होती है जो संसारी जीवके चिह्न हैं । निगोद जीवका लक्षण गोम्मटसारमें कहा है । उसका व्याख्यान संस्कृत टीका गोम्मटसारके अनुसार किया जाता हैं--- जिन जीवोंके साधारण नाम-कर्मका उदय होता है वे साधारण जीव होते हैं । उन जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति एक साथ एक ही कालमें होती हैं । वे सब एक ही साथ श्वास लेते हैं । एक निगोद शरीरमें अनन्त जीवोंका आवास रहता हैं । प्रति समय अनन्तजीव उत्पन्न होते रहते हैं । पहलेके जीवोंके समान ही दूसरे- --- तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंकी आहारदि पर्याप्ति एक साथ एक कालमें होती हैं । इस तरह पूर्वाचार्योंने यह साधारण जीवोंका लक्षण कहा हैं । एक निगोद शरीरमें जब एक जीव अपनी आयु पूरी होनेसे मरता है उसी समय उस शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त जीव अपनी आयु पुरी होनेसे मरते हैं। जिस निगोद शरीरमें

एक्काणिगोदसरीरे जीव दब्बप्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धे हिं अणंतगुणा सब्बेण वितीदकालेण ॥ [गो. जी. १९६]

ते च नित्येतरभेदाद् व्दिधा । तद्यथा ----

घ्नसत्त्वं ये प्रपद्यन्ते कालानां त्रितयेऽपि नो ।

ज्ञेया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृताः ॥

कालत्रयेऽपि यैर्जीवैस्त्रसता प्रतिपद्यते ।

सन्त्यनित्यनिगोदास्ते चतुर्गतिविहारिणः" [अमि. पं. सं. १।११०-१११]

जब एक जीव उत्पन्न होता है तब उसी निगोद शरीरमें समान स्थितिवाले अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जन्म -मरणका समकालमें होना भी साधारणका लक्षण है। दूसरे आदि समयोंमें उत्पन्न अनन्तातन्त जीव भी अपनी स्थितिका क्षय होनेपर साथ ही मरते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें प्रति समय अनन्तानन्त जीव एक साथ ही मरते हैं, एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। निगोद शरीर ज्योंका त्यों रहता है। उसकी उत्कृष्टस्थिति असंख्यात कोटाकोटी सागर मात्र है। जबतक यह स्थिति पूरी नहीं होती तबतक जीवोंका उत्पाद और मरण होता रहता है। इतना विशेष वक्तव्य है कि एक बादर निगोद या सूक्ष्म निगोद शरीरमें या तो सब पर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं या सब अपर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं। एक ही शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि उनकेसमान कर्मकेउदयका नियम है।

एक निगोद शरीरमें वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाणसे सिद्धजीवोंसे अनन्तगुने और समस्त अतीत कालसे भी अनन्तगुने देखे गये हैं। वे दो प्रकारके हैं - नित्यनिगोद और इतर निगोद। सिद्धन्तमें नित्यनिगोदका लक्षण इस प्रकार कहा है - अनादि संसारमें ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय कभी भी प्राप्त नहीं की। उनकेभाव अर्थात् निगोदपर्याय, उसके कारणभूत कलंक अर्थात् कषायोंके उदयसे होनेवाले संक्लेशसे प्रचुर होते हैं। इस प्रकारकेनित्य निगोदिया जीव निगोद सम्बन्धी भवस्थितिको कभी नहीं छोड़ते। इस कारणसे निगोदभव आदि और अन्तसे रहित है। नित्य विशेषणसे चतुर्गतिनिगोदरूप अनित्य निगोदवाले भी जीव हैं ऐसा सूचित होता है। परमागममें दोनों प्रकारके निगोद जीव कहे हैं। अर्थात् जो अनादिसे निगोदपर्यायको धारण किये हुए हैं वे नित्यनिगोद जीव हैं। और जो बीचमें अन्य पर्याय धारण करके निगोद पर्याय धारण करते हैं वे अनित्यनिगोद या इतर निगोद जीव हैं। वे सादिसान्त हैं। गाथामें कहा है कि जिनकेप्रचुर भाव कलंक हैं वे निगोदवासको नहीं छोड़ते। यहाँ प्रचुर शब्द एक देशका अभावरूप है तथा सकल अर्थाका वाचक है। इसपरसे ऐसा अर्थ जानना कि जिनके भावकलंक प्रचुर नहीं होता वे जीव नित्यनिगोदसे निकलकर चतुर्गतिमें आते हैं। अतः आठ समय अधिक छह मासके अन्दर चतुर्गतिरूप जीव राशिसे निकलकर छह सौ आठ जीवोंकेमुक्ति चले जानेपर उतने ही जीव नित्यनिगोदको छोड़कर चतुर्गतिमें आते हैं। गोमट्टसारकी संस्कृत टीकामें ऐसा व्याख्यान किया है। उक्त गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीव समासाधिकारमें भी है। आचार्य अमितगतने उसके आधारपर रचित अपने संस्कृत पंचसंग्रहमें लिखा है - जो तीनों कालोंमें त्रसपर्यायको प्राप्त नहीं करते वे बहुपापी जीव नित्यनिगोद जानने चाहिए।

तथा पृथिव्यादयः पञ्चापि साधारणाः पृथिव्यादिकायाः पृथिव्यादिकायिकाः पृथिव्यादिजीवाश्च भवन्ति ।

श्लोकः -

क्षमाद्याः साधारणाः क्षमादिकाया जीवोज्जिताः श्रिताः ।

जीवैसतत्कायिकाः श्रेयास्तज्जीवा विग्रहेतिगैः ॥ []

तत्रान्त्यद्वयेऽपि संयतै रक्ष्याः तद्देहाकारा यथा -

समानास्ते मसूराम्भो विन्दुसूचीव्रजध्वजैः ।

धराम्भोऽग्निमरुत्कायाः क्रमाच्चित्रास्तरुत्रसाः ॥[अमि. पं. सं. १।१५४]

संसारिणः पुनर्द्धेधा प्रतिष्ठितेतरभेदात् । तद्यथा -

प्रत्येककायिका देवाः श्वाभ्राः केवलिनोर्द्धयम्

आहारकधरा तोयपावकानिलकायिकाः ॥

निगोतैर्बादरैः सूक्ष्मैरेते सन्त्यप्रतिष्ठिताः ।

पञ्चाक्षा विकला वृक्षा जीवाः शेषाः प्रतिष्ठिताः ॥ ङ[अमित. पं. सं. १।१६२-१६३]

जो जीव तीनों कालोंमें त्रसपर्याय प्राप्त करते हैं वे चारों गतिमें विहार करनेवाले अनित्यनिगोद जीव हैं ।

श्वेताम्बर परम्परामें नित्यनिगोद शब्द राजेन्द्र अभिधानकोश और पाइअसद् महण्णवमें भी नहीं मिला । निगोदके दो भेद किये हैं - निगोद और निगोद जीव । सेनप्रश्नके तीसरे उल्लसमें प्रश्न ३४६ में पूछा है कि कुछ निगोद जीव कर्मोंके लघु होनेपर व्यवहार राशिमें आते हैं उनके कर्मोंके लघु होनेका वहाँ क्या कारण है ? उत्तरमें कहा है कि भव्यत्वका परिपाक आदि उनके कर्मोंके लघु होनेमें कारण है इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी नित्यनिगोदसे जीवोंका निकास मान्य हैं । अस्तु, पाँचो पृथिवीकायिक आदिके चार-चार भेद कहे हैं - घृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव । पहला पृथिवी भेद सामान्य है जो उत्तरके तीनों भेदोंमें पाया जाता है पृथिवीकायिक जीवके द्वारा छोड़े गये शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं । जैसे मरे हुए मनुष्यका शरीर । जीव विशिष्ट पृथिवी पृथिवीकायिक है । जिस जीवके पृथिवीकाय नाम कर्मका उदय है किन्तु विग्रहगतिमें स्थित है, पृथिवीकायमें जन्म लेने जा रहा है किन्तु जबतक वह पृथिवीको कायके रूपमें ग्रहण नहीं करतातबतक उसे पृथिवी जीव कहते हैं । इनमें - से अन्तिम दोकी रक्षा संयमियोंको करनी चाहिए ।

इन जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार कहा है -पृथिवी आदि चारोंका शरीर क्रमसे मसूरके समान, सूइयोंके समूहके समान और ध्वजाके समान होता है । वनस्पतिकाय और त्रसकायके जीवोंको शरीरका आकार अनेक प्रकारका होता है ।

संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं - संप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित । यथा - देव, नारकी, सयोग-केवली, अयोगकेवली, आहारकशरीर, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक, बादर और सूक्ष्म निगोदजीवोंसे अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् इनके शरीरोंमें निगोदजीवोंका वास नहीं होता । शेष पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और वनस्पतिकायिक जीवोंके शरीर

१. पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढवीजीवो य ।

साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥

- सर्वार्थ. २।१३ में उद्धृत ।

तेषां च पूर्णापूर्णानां प्राणसंख्या यथा ----

घसर्वेष्वङ्गेन्द्रियायूषिं पूर्णेष्णानः शरीरिषु ।

वाग् व्दिन्द्र्यादिहृषीकेषु मनः पूर्णेषु संज्ञिषु ॥

तथा संज्ञिनी चैकैको हीनोऽन्येष्वन्त्ययोर्द्वयम् ।

अपर्याप्तेषु सप्ताद्या एकैकोऽन्येषु हीयते" [अमित.प.सं. १/१२५ - १२६]

संज्ञिनः पर्याप्तस्य स्पर्शनं रसनं घ्राण चक्षुः श्रोत्रं मनोवाक्कायबलानि त्रीण्यायुरुच्छ्वासश्चेति दशा असंज्ञि
नो मनोवर्जा नव । चतुरिन्द्रियस्य मनःश्रोत्रवर्ज्या अष्टौ। त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्ज्याः सप्ता व्दीन्द्रियस्य ते
घ्राणवर्ज्या षट्। एकेन्द्रियस्य ते रसनवाग्बलाभ्यां विना चत्वारः। तथा संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चापर्याप्तस्य
मनोवागुच्छ्वासवर्जास्ते सप्ता चतुरिन्द्रियस्य श्रोत्रवर्जाः षट् । त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्जाः पञ्चा व्दीन्द्रियस्य
ते घ्राण विना चत्वारः । एकेन्द्रियस्य ते रसनं विना त्रयः। पर्याप्तापर्याप्तलक्षणं यथा ----

गृहवस्त्रादिकं द्रव्यं पूर्णापूर्णं यथा भवेत् ।

पूर्णेतरास्तथा जीवाः पर्याप्तेतरनामतः॥

आहाराङ्गेन्द्रियप्राणवाचः पर्याप्तायो मनः ।

चतस्रः पञ्च षट् चैकव्यक्षादौ संज्ञिनां च ताः ॥

पर्याप्ताख्योदयाज्जीवः स्वस्वपर्याप्तिनिष्ठितः।

वपुर्यापदपर्याप्तं तावन्निर्वर्त्यपूर्णकः॥

निष्ठापयेन्न पर्याप्तिमपूर्णस्योदये स्वकाम् ।

सान्तर्मुहूर्तमृत्युः स्याल्लब्ध्यपर्याप्तकः स तु" []

निगोदजीवों से प्रतिष्ठित होते हैं । इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंके प्राणोंकी संख्या इस प्रकार है ---
संज्ञी पर्याप्तकके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु तौर उच्छ्वास ये
दस प्राण होते हैं। असंज्ञीके मनको छोडकर नौ प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रियके मन और श्रोत्रको आठ होते हैं
। तेइन्द्रियके उनमें - से चक्षुको छोडकर सात प्राण होते हैं । दो- इन्द्रिय के उनमें - से घ्राणको छोडकर
छह प्राण होते हैं । एकेन्द्रियके उनमें - से रचना और वचनगल और उच्छ्वासको छोडकर सात प्राण होते
हैं । चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोडकर छह प्राण होते हैं । तेइन्द्रियके रसनाके बिना तीन प्राण होते हैं ।
दोइन्द्रिय- के घ्राणके बिना चार प्राण होते हैं । एकेन्द्रियके रसानाके बिना तीन प्राण होते हैं । पर्याप्त और
अपर्याप्तका लक्षण इस प्रकार हैं--- जैसे मकान, घट, वस्त्र आदि द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण होते हैं वैसे ही
पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त कहते हैं ।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाया और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं । इनमें एकेन्द्रियके
आरम्भकी चार पर्याप्तियाँ होती हैं, विकलेन्द्रियके पाँच और संज्ञीके छह पर्याप्तियाँ होती हैं ।

पर्याप्तिनामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी- अपनी पर्याप्तियोंकी पूर्तिमें लग जाता है । जबतक
शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं । और अपर्याप्त नामकर्मका उदय

होनेपर जीव अपनी- अपनी पर्याप्तियोंकी पूर्ति नहीं कर पाता । अन्तर्मुहूर्तमें ही उसका मरण हो जाता है । उसे लब्धपर्याप्तक कहते हैं ।

पर्याप्तिश्चाहारपरिणामादिशक्तिकारणनिष्पत्तिरुच्यते । श्लोकः---

छाहारपरिणामादि शक्तिकारणसिद्धयः ।

पर्याप्तयः षडाहारदेहाक्षोच्छ्वासवाङ्मनः" []

इमे च जीवसमासाश्वतुर्दश ---

छसमणा अमणा णेया पंचेन्द्रिय णिमणा परे सव्वे।

६ बादर सुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य । [द्रव्यं सं. १२]

तथा गुणस्थानैर्मार्गणाभिश्च विस्तरेणागमतो जीवान्निश्चित्य रक्षेत् । गुणस्थानानि यथा ---

आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं । कहा है --- आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी सिद्धिको पर्याप्ति कहते हैं । अर्थात् आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाके परमाणुओको शरीर इन्द्रिय आदि रूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं । वे छह हैं ।

चौदाह जीवसमास इस प्रकार हैं---- पंचेन्द्रिय जीव मनरहित भी होते है और मनरहित भी होते है । शेष सब जीव मनरहित होते हैं । तथा एकेन्द्रिय जीव बादर भी होते है और सूक्ष्म भी होते है । इस तरह एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो - इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रियअसंज्ञी, पंचेन्द्रियसंज्ञी ये सातों पर्याप्तक भी होते है और अपर्याप्तक भी होते है । इस तरह चौदह जीवसमास होते है । विस्तारमें ९८ जीवसमास होते है--- तिर्यचके ८५, मनुष्यके ९, नारकीदे दो और देवोके दो । तिर्यचके ८५ जीवसमासोंमें से सम्भूर्छनके उनहत्तर और गर्भजके १६ जीवसमास होते है। सम्भूर्छनके उनहत्तरमें- से एकेन्द्रियके ४२, विकलत्रयके ९ और पंचेन्द्रियके १८ जीवसमान होते हैं । एकेन्द्रियके ४२ जीवसमास इस प्रकार है --- पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यानिगोद, इतरनिगोद इन छहोके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षासे १२, तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक अप्रतिष्ठित प्रत्येकको मिलानेसे १४ होते हैं । इन चौदाहोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्धपर्याप्तककी अपेक्षासे ४२ जीवसमास होते हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रियके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्धपर्याप्तककी अपेक्षा ९ भेद विकलेन्द्रियके होते है । जलचर, थलचर, नभचर इन तीनोंके संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा ६ भेद होते है । और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्धपर्याप्तककी अपेक्षा अठारह भेद पंचेन्द्रिय तिर्यचके होते है । इस तरह सम्भूर्छन पंचेन्द्रियके ६९ भेद होते हैं । गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचके १६ भेद इस प्रकार है--- कर्मभूमिजके १२ और भोगभूमिजके चार । जलचर, थलचर, नभचरके संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे छह भेद होते है और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्धपर्याप्तककी अपेक्षा १२ भेद होते है । भोगभूमिमें थलचर और नभचर ही होते है जलचर नहीं होते और वे पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते है । इस तरह उनके चार भेद होते है ।

मनुष्योके नौ भेद इस प्रकार है--- म्लेच्छ मनुष्य, भोगभूमिज और कुभोगभूमिके मनुष्य पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं। आर्यखण्डके मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त भी होते हैं इस तरह नौ भेद होते हैं। नारकी और देव पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं अतः इन दोनोंके दो* - दो भेद होते हैं। तथा गुणस्थान और मार्गणाओके द्वारा भी विस्तारसे जीवोंका निश्चय करके उनकी रक्षा करनी चाहिए। गुणस्थान इस प्रकार कहे हैं ---

धमिथ्यादृक्शासनो मिश्रोऽसयतोऽणुव्रतस्ततः।

सप्रमादेतरापूर्वनिवृत्तिकरणास्तथा ॥

धसूक्ष्मलोभोपशान्ताख्यौ निर्मोहो योग्ययोगिनी ।

गुणाश्चतुर्दशेत्येते मुक्ता मुक्तगुणाः परे" []

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यक् दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण उपशमक क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय उपशमक क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक क्षपक, उपायान्त कषाय वीतरागछपन्नस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छपन्नस्थ, सयोगकेवली, अयोगकेवली ये चौदाह गुणस्थान हैं। इनमें संसारके सब जीव अपने अपने परिधामोंके अनुसार विभाजित हैं। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जिनकी दृष्टि मिथ्या होती है उन जीवोंको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टिको तत्त्वार्थका श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यात्व कर्मका उदय दूर होनेपर जिस जीवकी अन्तरात्मा अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे कलुषित होती है उसे सासादन- सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सासादन कहते हैं सम्यक्त्वकी विराधनाको। जो सासादनसे सहित है वह सासादन है। अर्थात् जिसने सम्यक्दर्शनको तो विनष्ट कर दिया है और मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाले परिणामको प्राप्त नहीं किया है किन्तु मिथ्यात्वके अभिमुख है वह सासादन है। जिस जीवकी दृष्टि समीचीन दृष्टि समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यक् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्वकर्मके उदयसे तत्त्वार्थके श्रद्धान और अश्रद्धारूप आत्माको सम्यक् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। औपशमिक या क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त होनेके साथ चारित्र मोहनीयके उदयसे अत्यन्त अविरतिरूप परिणामवाले जीवको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इससे ऊपरके गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन नियमसे होता है। जो सम्यग्दृष्टि एक ही समय त्रसंहिसासे विरत और स्थावर जीवकी हिंससे अविरत होता है उसे विरताविरत या संयतासंयत कहते हैं। जो संयमसे युक्त होते हुए भी प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तांयत कहते हैं। संयमके दो भेद जो संयमसे युक्त होते हुए भी प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। संयमके दो भेद हैं --- प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। दोनों प्रकारके संयमको अपनायें हुए भी पन्द्रह प्रमादोके कारण जिसका चारित्रपरिणाम कुछ स्खलित होता है वह प्रमत्तांयत है। संयमको धारण किये हुए जो पूर्वोक्त प्रमादोके न होनेसे अस्खलित संयम पालता है वह अप्रमत्त संयत है। यहाँसे आगे चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ होती हैं--- उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी। जिसमें आत्मा मोनलीय कर्मका उपशम करते हुए चढता है वह उपशमश्रेणी है और जिसमें मोहनीय कर्मका क्षय करते हुए क्षपणश्रेणी है। करण शब्दका अर्थ परिणाम है। और जो पहले नहीं उन्हें अपूर्व कहते हैं। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंसे

भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम अपूर्व होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंके कारण आठवें गुणस्थानको अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें न तो कर्मप्रकृतियोंका उपयाम होता है और न क्षय होता है। किन्तु पहले और आगे होनेवाले उपशम और क्षयकी अपेक्षा उपचारसे उपशमक या क्षपक कहते हैं। समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको कहते हैं। और साम्परायका अर्थ कषाय है। बादरका अर्थ स्थूल है। अतः स्थूल कषायोंको बादर साम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिरूप बादर साम्परायको अनिवृत्ति बादर साम्पराय कहते हैं। अनिवृत्तिरूप परिणामोंसे कर्मप्रकृतियोंका स्थूलरूपसे उपशम या क्षम होता है। साम्पराय अर्थात् कषाय जहाँ सूक्ष्मरूपसे उपशान्त या क्षय होता है। साम्पराय अर्थात् कषाय जहाँ सूक्ष्मरूपसे उपशान्त या क्षय होती

मार्गणा यथा ---

घातयः करणं कायो योगो वेदः क्रुधादयः ।
वेदनं संयमो दृष्टिर्लेश्या भव्यः सुदर्शनम् ॥
संज्ञी चाहारकः प्रोक्तास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ।
मिथ्यादृगादयो जीव मार्ग्या यासु सदादिभिः ॥ [] ॥२२॥

अथ परमार्थतः घ्रमत्तयोग एव हिंसाड इत्युपदिशति ----

रागाद्यसगुडतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः ।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्त्रो रागादिसंश्रितः ॥२३॥

है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। समस्त मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होनेसे उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय नाम होते हैं। घातिकर्मोंका अत्यन्त क्षय होनेसे जिनके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है उन्हें केवली कहते हैं। योगके होने और न होनेसे केवलीके दो भेद होते हैं ---- सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिए सीढीके तुल्य हैं। जो इनसे अतीत हो जाते हैं वे सिद्ध जीव कहलाते हैं। चौदह गुणस्थानोंकी तरह चौदह मार्गणाएँ हैं ---- गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणा हैं। इनमें जीवोंको खोजा जाता है इसलिए इन्हें मार्गणा कहते हैं।

गतिनामकमके उदयसे जीवकी जो विशेष चेष्टा होती है, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाता है उसे गति कहते हैं। जो अपने - अपने विषयको गहन करनेमें स्वतन्त्र है वह इन्द्रिय है। आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित पुद्गल पिण्डको काय कहते हैं जैसे पृथिवीकाय, जलकाय आदि। मन- वचन और कायसे युक्त जीवके जो वीर्यविशेष होता है उसे योग कहते हैं। आत्मामें उत्पन्न हुए मैथुन भावको वेद कहते हैं। जो कर्मरूपी खेतका कर्षण करती है उसे सुख - दुःखरूप फल देने योग्य बनाती है वह कषाय है। वस्तुको जाननेवाली शक्तिको ज्ञान कहते हैं। व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायका निग्रह, मन वचन- कायरूप दण्डोंका त्याग, इन्द्रियोंका जय ये सब संयम है। पदार्थोंके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते हैं। कषायके उदयसे रंजित मन- वचन- कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। जिस जीवमें

सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे उसे भव्य कहते है वही मोक्ष जाता है। तत्त्वार्थ के श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो जीव मनकी सहायतासे उपदेश आदि ग्रहण करता है वह सेज़ी है, जिसके मन नहीं है वह असंज़ी है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको जो ग्रहण करता है वह आहारक है। इस तरह इन मार्गणाओमें सत् संख्या आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंको जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा धर्मके पालनेके लिए जीवोंके विविध प्रकारोंका पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसकेबिना उनका पूर्ण संरक्षण कर सकना शक्य नहीं होता ॥२२॥

आगे कहते हैं कि यद्यपि प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है किन्तु परमार्थसे प्रमत्तयोग ही हिंसा है ----

प्राणोंका घात करनेपर भी यदि व्यक्ति राग- व्देष और मोहरूप परिणत नहीं है तो वह अहिंसक है। और प्राणोंका घात न होनेपर भी यदि वह राग आदिसे युक्त है तो हिंसक है ॥२३॥

स्पष्टम् । उक्तं च ---

मरदु व जियदु व जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स । [प्रवचनसार ३।१७]

अपि च ---

म्रियतां वा म्रियतां जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा ।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥ [अमित. श्रा.६।२५]

तथा ---

घअत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसित्ति सिच्छया समए ।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इयरो ॥ [भ.आरा. ८०] ॥२३॥

विशेषार्थ --- जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुःखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते है और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं फिर भी जैन सिध्दान्त इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता। जैन सिध्दान्तकी दृष्टि से हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है। यहाँ प्रमत्तयोग और प्राणघात दो पद इसलिए दिये हैं कि यदि दोनोंमे -- से एकका अभाव हो तो हिंसा नहीं है। जहाँ प्रमत्तयोग नहीं है केवल प्राणघात है वहाँ हिंसा नहीं है। कहा है --- छैर्यासमितिपूर्वक चलते हुए तपस्वीके पैर उठानेपर चलनेके स्थानमें यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ गिरे और वह उस साधुके पैरसे कुचलकर मर जीवे तो उस साधुको उस सूक्ष्म जन्तुके घातके निमित्तसे सूक्ष्म-सा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है। उ

और भी आचार्य सिद्धसेनने अपनी द्वात्रिंशिकामें कहा है कि कोई प्राणी दूसरेको प्राणोसे वियुक्त करता है, उसके प्राण ले लेता है फिर भी हिंसासे संयुक्त नहीं होता, उसे हिंसा का पाप नहीं लगता । एक प्राणी दूसरेको मारनेका कठोर विचार करता है उसका कल्याण नहीं होता । तथा कोई दूसरे प्राणियोको नहीं मानता हुआ भी हिंसाके प्राप्त होता है । इस प्रकार हे जिन ! तुमने यह अतिगहन प्रशमका हेतु ---शान्तिका मार्ग बतलाया है ।

क्यों एक प्राणोका घात करके भी हिंसाके पापका भागी नहीं होता और क्यो दूसरा प्राणोंका घात नहीं करके भी पापका भागी होता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--- जीव चाहे जिये चाहे मरे जो अयत्नाचारी है उसे अवश्य हिंसाका पाप लगता है । किन्तु जो यन्ताचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा हो जाने मात्रसे पापबन्ध नहीं होता । इस तरह जैनधर्ममें हिंसाके दो भेद किये हैं --- द्रव्यहिंसा या बहिरंगहिंसा और भावहिंसा या अन्तरंगहिंसा के कारण सिक्थकमत्स्य तन्दुलमत्स्य (मरकर) सातवें नरकमें जाता है । अतः शुद्धनयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है बाह्यहिंसा हिंसा नहीं है । षट्खं., [प१. १४, पृ .

१. घम्रियता मा मृत जीवः --- अमि. श्राव. ६।२५।
२. घवियोजयति चासुभिर्न च बधेन संयुज्यते , शिवं च न परोपमदपरुषस्मृतेर्विते ।
वधोपनयनभ्युपैति च पराननिघ्नन्नपि त्वयायमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः ॥३

ननु यद्येवं तर्हि प्रमत्तयोगे हि सत्येवास्तु किं प्राणव्यवरोपणोपदेशेन इति चेन्न तत्रापि भावलक्षणप्राणव्यवरोपणशब्दात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह ---

- ३ प्रमत्ते हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतड्रकतायनात् ।
परोऽनु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽकिडनः ॥२४॥

प्रमत्ताः--- पत्र्वदशप्रमादान्यतमपरिणतः। तथा चोक्तम् ---

- ६ घविकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।
अन्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः" []

प्राक्--- परवधात्पूर्वम् । आतड्रकतायनात् --- दुष्कर्मनिर्मापकत्वेन स्वस्य सद्यः पुरस्ताच्च व्याकुलत्व---

- ९ लक्षणदुःखसंतननात् । परः--- हन्तुमिष्टः प्राणी । अनु --- पश्चात् , आत्माहिंसनादूर्ध्वमित्यर्थः ।
तदुक्तम् ---

घ्रवयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।

प्रर्व प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्यादा न वा वधः" [सर्वार्थसि . ७।१ में उद्धृत]

२. रागाद्या हि --- रागद्वेषमोहा एव न परप्राणवधः । तेषामेव हि
दुःखैककारणकर्मबन्धनिमित्तत्वेनारित्वात् ।

तथा चोक्तम् ---

घ्न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा

२. न नैकरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत ।

९० में कहा है --- अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है । दोनों ही पराधीन नहीं है
। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है और जो प्रमादसे युक्त है वह सदैव हिंसक है । ६

उक्त कथनपर से यह शंका हो सकती है कि यदि प्रमत्तयोगका ही नाम हिंसा है तो हिंसाका
लक्षण केवल प्रमत्तयोग होना चाहिए, उसके साथ प्राणघात लगाना व्यर्थ है । इसका समाधान करते हैं ---

जो जीव पन्द्रह प्रमादोमे- से किसी एक प्रमादसे भी युक्त है वह परका घात करनेसे पहले
तत्काल अपने दुष्कर्मोंका संचय करनेके कारण और आगे व्याकुलतारूप दुःखको बढ़ानेसे अपने ही
भावप्राणोंका घात करता है । उसके पश्चात् जिसको मारनेका विचार किया था वह प्राणी मरे या न मरे ।
क्योंकि राग- द्वेष - मोह ही प्राणी केशत्रु हैं ॥२४॥

विशेषार्थ--- जो दूसरोंको मारनेका या उसका अनिष्ट करनेका विचार करता है सबसे प्रथम इस
दुर्विचारके द्वारा वह अपने भावप्राणोंका घात करता है । क्योंकि इस दुर्विचारके द्वारा ही उसके अशुभ
कर्मोंका बन्ध होता है और इस बन्धके कारण आगे उसे उसका दुःखरूप फल भोगना पड़ता है । कहा भी
है --- प्रमादी आत्मा पहले तो स्वयं अपने ही द्वारा अपना घात करता है । दूसरे प्राणियोंका घात पीछे
हो या न हो ।

अपनेसे अपना घात कैसे करता है तो इसका उत्तर है कि प्राणीके असली शत्रु तो राग- द्वेष- मोह
है क्योंकि दुःखका एकमात्र कारण है कर्म और उस कर्मबन्धमें निमित्त है राग- द्वेष, मोह । अतः वे
आत्मा के अपकार करनेवाले हैं । कहा है --- धर्मबन्धका कारण कर्मयोग्य पुद्गलोसे भरा लोक नहीं है ।
हलन- चलनरूप मन - वचन- कायकी क्रियारूप योग भी उसका कारण नहीं है । अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ
भी बन्धके कारण नहीं हैं, न चेतन और अचेतनका

२. घस्वयं हहिंसा स्वयमेव हिंसन न तत्परसधीनमिह वदयं भवेत् ।

प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक ॥६

यदैक्यमुपयोगभुः समुनपयाति रागादिभिः

स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥ [समय. कलश १६४]

यदि पुनः शुद्धपरिणामवतोऽपि जीवस्य स्वशरीरनित्तान्यप्राणवियोगमात्रेण वधः स्यान्न

कस्यचिन्मुक्तिः स्याद् योगिनामपि वायुकायिकादिवधनिमित्तसद्भावात् । तथा चाभणि ---

जइ सुधदस्स य बंधो होदि हि बहिरंगवत्थुजोगेण ।

णत्थि दु अहिंसगो णाम बादरकायादिवधहेदू ॥ [भ. आरा ८०६ गा.]

एतदेवाह----

तत्त्वज्ञानबलाद् रागव्देषमोहानपोहतः ।

समितस्य न बन्धः स्याद् गुप्तस्य तु विशेषतः ॥२५॥

अपोहतः--निवर्तयतः ॥२५॥

अथ रागाद्युत्पत्त्यनुत्पत्ती हिंसाहिंसे इति जिनागमरहस्यतया विनिश्चाययति----

घात ही बन्धका कारण है । किन्तु यह जो आत्मा रागादिके साथ एकताको प्राप्त होता है यही जीवोंके बन्धका कारण है^६

जैस कोई मनुष्य शरीरमें तेल लगाकर धूलभरी भूमिमें शस्त्र-संचालनका अभ्यास कारते हुए अनेक वृक्षोंको काटता है और धूलसे लिप्त होता है । अब विचारना चाहिए कि उसके धूलसे लिप्त होनेका कारण क्या है ? धूलभरी भूमि तो उसका कारण नहीं है । यदि वह हो तो शरीरमें तेल लगाये बिना जो उसमें व्यायाम करते हैं उसका शरीर भी धूलसे लिप्त होना चाहिए । इसी तरह शस्त्राभ्यास भी उसका कारण नहीं है और न वृक्षोंका छेदन-भेदन करनेसे ही धूल चिपटती है । किन्तु उसके शरीरमें लगे तेलके ही कारण उसमे धूल चिपटती है । इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव रागादि भावोंसे लिप्त होकर कर्मपुद्गलोंसे भरे लोकमें मनवचन-कायकी क्रिया करते हुए अनेक उपकरणोंसे सचित्त-अजित्त वस्तुका घात करना है और कर्मसे बँधता है । यहाँ विचारणीय है कि बन्धका कारण क्या है ? कर्मपुद्गलोंसे भरा लोक तो बन्धाका कारण नहीं है । यदि हो तो यथाख्यात चारित्रके धारकोंको भी बन्धका प्रसंग आयेगा । अनेक प्रकारकी इद्रियों भी बन्धका कारण नहीं है । यदि हों तो केवलज्ञानियोंके भी बन्धका प्रसंग आयेगा । सचित्त- अजित्त वस्तुका घात भी बन्धका कारण नहीं है।

यदि हो तो समितिमें तत्पर मुनियोंको भी बन्ध होगा । अतः बन्धका कारण रागादि ही है । यदि शुद्ध परिणामवाले जीवके अपने शरीरके निमित्तसे होनेवाले अन्य प्राणिके घात मात्रसे बन्ध होना माना जाये तो किसकी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि योगियोंके त्वास लेनेसे भी वायुकायिक जीवोंका घात होता है । कहा भी है घ्यदि बाह्य वस्तुके योगसे शुद्ध परिणामवाले जीवके भी बन्ध होवे तो कोई भी अहिंसक नहीं हो सकता; क्योंकि शुद्ध योगीके भी त्वासके निमित्तसे वायुकाय आदि जीवोंका बध होता है ॥२४॥

यही बात कहते हैं ----

तत्त्वज्ञानके बलसे राग-व्देष और मोहको दूर करनेवाले और समितिके पालक मुनिराजके बन्ध नहीं होता और गुप्ति के पालकके तो विशेषरूपसे बन्ध नहीं होता ॥२५॥

रागादिकी उत्पत्ति हिंसा है और अनुत्पत्ति अहिंसा है यह जिनागमका परम रहस्य है ऐसा निश्चय करते हैं---